घर परिवार भी एक शरीर है

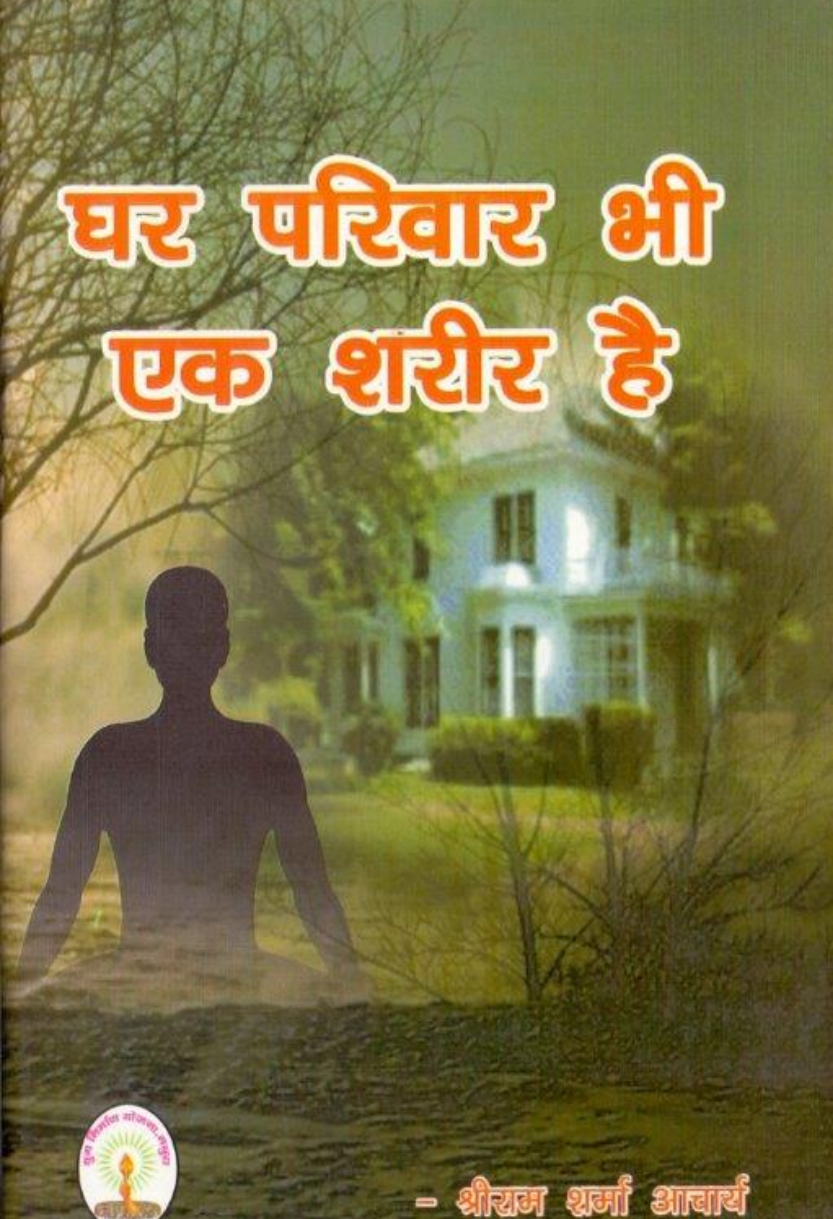

- श्रीराम शर्मा आचार्य

घर-परिवार भी एक शरीर है

लेखक :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४ मूल्य : ११.०० रुपये

विषय-सूची

१.	प्रेम का स्वरूप और विस्तार विवरण	३
२.	कन्या और वधू को कम दुलार न मिले	११
३.	विवाह के साथ जुड़े हुए दायित्व	१६
४.	दांपत्य जीवन और सहचरत्व	२७
५.	सच्चे दांपत्य प्रेम की कसौटी	३५
६.	महिलाओं को समर्थता का प्रशिक्षण	४३
७.	सत्प्रवृत्तियों का अनुशासन	५०

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

प्रेम का स्वरूप और विस्तार विवरण

प्रेम को परमेश्वर कहते हैं। परमेश्वर इंद्रियातीत है, उसे नेत्र आदि इंद्रियों से या बुद्धि कल्पना से नहीं जाना जा सकता। भाव संवेदनाएँ ही उसे अनुभव में उतारती हैं। प्रेम निकटवर्ती से होता है या निकटवर्ती से प्रेम हो जाता है। हम शरीर को प्यार करते हैं। उसे सुखी बनाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास और त्याग करते हैं। यहाँ तक कि वासना विलासिता के लिए पतन पराभव तक स्वीकार कर लेते हैं। नरक, भव-बंधन, अपयश, दुर्गति तक स्वीकार करते हैं पर अपने प्रेमी को सुखी संतुष्ट बनाने के लिए उचित-अनुचित तक का विचार छोड़कर प्रेयसी काया के इच्छानुवर्ती बनते हैं। प्रेम में प्रेमी के लिए बहुत कुछ सब कुछ, करना पड़ता है। सेवा सहायता करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी जाती।

माता और बच्चे के बीच जो वात्सल्य चलता है, उसे प्रेम का सांसारिक उदाहरण समझा जा सकता है। बच्चा अनजान होने के कारण अनेक प्रकार की गड़बड़ियाँ ही उत्पन्न करता रहता है पर माता उस पर क्षोभ किए बिना सब कुछ सहन करती रहती है। अपना लाल लहू सफेद दूध के रूप में परिणत करके बालक को पिलाती है पर प्रतिदान की बात कभी सोचती तक नहीं। कृतज्ञता व्यक्त किए जाने की भी आशा नहीं करती है। उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने में कुछ उठा नहीं रखती। दूसरे सभी के बच्चों से अपना बालक कहीं अधिक सुंदर लगता है। उसे आँखों का तारा समझती रहती है। हँसता देखकर प्रमुदित हो उठती है और उदास देखकर चिंता में डूब जाती है। प्रेम तो प्रेम जो ठहरा। उसके साथ अनन्य आत्मीयता घुली रहती है। चिड़िया के घोंसले में से जब बाज झपट्टा मारकर अंडा या बच्चा उठा ले जाता है तो चिड़िया उसे छुड़ाने के लिए बाज के पीछे दौड़ती और आक्रमण करती है। तब उसे यह भय नहीं होता कि समर्थ बाज उलटकर उसका भी कचूमर निकाल

सकता है। चिड़िया का रौद्र रूप देखकर बाज को भी भागते ही बनता है। प्रेम के आवेश में प्रेमी जो भी त्याग कर बैठे कम है। लैला-मंजनू, शीरीं-फरियाद, हीर-राझाँ आदि कथानकों में इसी तथ्य को प्रकट किया गया है कि प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी कर सकता है।

प्रेम की यथार्थता और गहराई इस कसौटी पर कसकर जानी जा सकती है कि प्रेम-पात्र के प्रति कितनी सघन आत्मीयता है। उसकी सेवा, सहायता तथा प्रगति के लिए कितना सोचा और कितना किया गया ? जहाँ इस प्रकार की भाव-संवेदना का अभाव हो, समझना चाहिए कि वहाँ प्रेम नाम की कोई वस्तु नहीं। लिप्सा, लालसा एवं स्वार्थ साधना को ही प्रेम का नाम देकर किन्हीं भोले भावुकों को बहकाया गया है। शब्दाडंबर के जाल-जंजाल में किसी को फँसाया जा रहा है।

प्रायः कामुकता की ललक बुझाने के लिए जिसे शिकंजे में कसा जाता है, उसे प्रेमी या प्रेम का नाम दिया जाता है। उस संबंध की घनिष्ठता या स्थिरता तभी तक बनी रहती है, जब तक कि जितनी मात्रा में स्वार्थ सधता रहता है। इसमें कमी पड़ने पर प्रेम का उन्माद भी उतर जाता है। उपेक्षा, उदासी बढ़ने लगती है और बात बढ़ते-बढ़ते कलह, विद्वेष, दोषारोपण, वैमनस्य और पीछा छुड़ाने का षड्यंत्र रचने तक जा पहुँचती है। देखा गया है कि उठती जवानी के दिनों जो तथाकथित प्रेम उमंगता रहता है, वह नयापन विदा होते ही घर गृहस्थी का पहिया धकेलने तक सीमित रह जाता है। एक-दो बच्चे होने पर तो ध्यान और भी बँट जाता है। साथी के द्वारा जो उपहार मनुहार के ढेर लगते रहते थे, उसमें यह गंध सूँघी जानी चाहिए कि असली की जगह नकली वस्तु देकर उस तरह खुश किया जा रहा है जैसे बच्चे को खिलौने से फुसलाया जाता है।

माता बच्चे के प्यार में असलियत होनी चाहिए। भेद भाव का विषय उसमें नहीं घुलना चाहिए। लड़की की उपेक्षा और लड़के को दुलारना ऐसे भेदभाव का प्रतीक है, जिससे प्रेम शब्द कलंकित होता है। लड़की को हेटी समझना भौतिकवादी अर्थशास्त्र का प्रतिपादन है। लड़की पराए घर जाती है। साथ में विवाह के साथ कुछ दहेज

सौगात भी ले जाती है। इसके विपरीत लड़का दासी जैसी बहू लाता है। कमाई से घर की समृद्धि बढ़ाता है। बुढ़ापे का सहारा बनता है आदि विचारणाएँ ऐसी ही हैं जैसी पशुओं का मोलभाव उनकी उत्पादन शक्ति के आधार पर किया जाता है।

बच्चों के बारे में हमारा दृष्टिकोण मानवीय होना चाहिए। सृष्टि के दोनों घटक गाड़ी के दो पहिए के समान हैं। दोनों के मिलने से ही परिवार बनता है। परिवार की छत्रछाया में उसके सभी सदस्य आश्रय प्राप्त करते हैं। निर्वाह और विकास की प्रक्रिया उसी कल्पवृक्ष उद्यान में बनती है। पुरुष यदि प्रत्यक्ष व्यवसाय चलाता है और रुपयों के रूप में कमाई घर लाता है तो नारी अपने ढंग से उस संस्थान को सुसंपन्न करने में कम योगदान नहीं करती। चौबीस घंटे के नौकर बाजार में कदाचित ही कभी किसी को मिल पाते हैं। पर गृहिणी उस भूमिका को निभाती है। चौबीस घंटे की चौकीदारिन बनकर रहती है। दोनों वक्त की रसोई बनाना उसी के जिम्मे रहता है। बीच-बीच में चाय, स्वागत आतिथ्य के लिए उसी को कुछ न कुछ बनाना पड़ता है। कपड़े धोना उसी के जिम्मे रहता है। चौकीदारिन, रसोईदारिन, धोबिन के रूप में उसका बाजार भाव आंका जाए तो उतना ही जा पहुँचता है, जितना पुरुष दुकान पर कमाई करके लाता है। इसके अतिरिक्त उसकी वफादारी असंदिग्ध रहती है। विश्वास के आदमी, प्रामाणिक मित्र किसे मिलते हैं ? जिसके हाथ घर की सारी पूँजी सौंपी जा सके। ऐसा सहचर पाकर मनुष्य अनुभव करता है कि उसने कोई दैवी अनुदान प्राप्त कर लिया है। लड़की जिस घर में जाती है, उसमें प्रेम भाव का, संवेदना का झरना बहा देती है। पति को इतने उच्चकोटि की प्रणव संवेदनाएँ मिलती हैं, जिन्हें पाकर वह अपनी अपूर्णता को पूर्णता में विकसित हुआ अनुभव करता है। घर के अन्य सदस्य भी उनका अभिनव आतिथ्य, सत्कार, सम्मान पाकर सोचते हैं कि उनके मुरझाए जीवन में बसंती माहौल ने प्रवेश किया है। इन सब संवेदनाओं का मूल्यांकन भौतिक धन-संपदा के रूप में नहीं किया जा सकता है। यह आत्मिक अनुदान है, जिसकी तुलना कल्पवृक्ष से ही की जा सकती है। ऐसी महत्त्वपूर्ण संतान उत्पन्न करने के उपलक्ष्य में माता को, पिता को समूचे परिवार को

असाधारण आनंद अनुभव करना चाहिए। पर दुर्भाग्य यह है कि उसका उलटा मूल्यांकन किया जाता है। इतना श्रेय संपादित करने वाली, दूसरे के घर में गृहलक्ष्मी बनकर प्रवेश करने वाली लड़की को क्यों उपेक्षित किया जाए ? क्यों तिरस्कृत ? क्यों उसका मूल्य गिराकर आंका जाए ?

अपनी लड़की दूसरे के घर जाती है तो दूसरे की लड़की अपने घर भी तो आती है। कन्या के रूप में एक हाथ विवाह के समय उसे विदा करते हैं तो दूसरे हाथ से किसी दूसरे के घर से उसे वधू के रूप में प्राप्त भी तो कर लेते हैं। यह मात्र अदला-बदली हुई। यह कहाँ हुआ कि अपना उत्पादन चला ही गया हो और उसके बदले कुछ न मिला हो। यदि कन्याओं का उत्पादन घट जाए या समाप्त हो जाए तो वंश वृद्धि के लिए जो लालसा व्यक्त की जाती है उसका जड़ मूल ही नष्ट हो जाए। वंश चलाने का कठिन कार्य एकमात्र वधू को ही वहन करना पड़ता है। पुरुष का तो उसमें क्रीड़ा- कौतुक जैसा योगदान होता है। गर्भधारण, प्रसव, स्तनपान, संरक्षण, भरण-पोषण तो जननी के जिम्मे ही रहता है। पुरुष तो इन सबमें दूरवर्ती भागीदार होता है। ऐसी दशा में पुत्र की कामना करने वाले वंश चलाने की, बुढ़ापे की लकड़ी खोजने वालों की भी इस मनोकामना की पूर्ति के लिए मनसा पूर्ण करने वाली मंसा देवी नारी का ही अनुग्रह प्राप्त करना पड़ता है। संतान चाहे लड़की हो या लड़का नारी के शरीर और अंतराल में से निकला अनुदान ही है। ऐसे अमृत फल देने वाली को हेय उपेक्षित समझा जाए और उसकी अवज्ञा की जाए, यह चिंतन अदूरदर्शिता से भरा हुआ एक पक्षीय ही कहा जा सकता है।

घरों में जब कन्या का जन्म होता है तो उदासी छा जाती है और जब लड़के का जन्म होता है तो खुशियाँ मनाई जाती हैं। बधाई बाँटी जाती हैं। दैनिक व्यवहार में भी कन्या के भोजन, वस्त्र, दुलार, शिक्षा, चिकित्सा आदि में भी कमी की जाती है। बच्चे की वस्तु स्थिति को समझते हैं। विशेषतया भावनाओं का अंतर तो उनकी समझ में और भी जल्दी आ जाता है। अबोध समझी जाने वाली बच्चियाँ भी ताड जाती हैं कि उन्हें घटिया माना जा रहा है और

भार समझकर पाला जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया उनके मनोबल को गिराती है। आत्महीनता का बीजांकुर जमाती है। वे अपने को भाग्यहीन और अंधेरे भविष्य वाली मानने लगती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उनका व्यक्तित्व जिस स्तर तक उभर सकता था उतना उभर नहीं पाता। वे आजीवन दबी, पिसी, पिछड़ी, गई-गुजरी मनोभूमि की बनी रहती हैं। जिस घर में जाती हैं उस परिवार की भी उतनी सेवा सहायता नहीं कर सकतीं जितनी कि वे विकसित व्यक्तित्व साथ लेकर जाने पर कर सकती थीं। शरीर से अपंग व्यक्ति की आधी शक्ति मारी जाती है। उसी प्रकार दबे-कुचले मन वाला व्यक्ति भी अपनी स्वाभाविक प्रतिभा का एक बहुत बड़ा अंश गवाँ बैठता है। यह वैसी ही निर्दयता है जैसे कि कुछ निष्ठुर भिखारी अपने बच्चे के अंग तोड़-मरोड़कर इस लायक बना देते हैं कि वे आजीवन भीख माँगें। उनके विकास के लिए उन्हें कोई जिम्मेदारी न उठानी पड़े। रोते-कलपते भाग्य को दोष देते वे भी अपने दिन काटें और हो सके तो अभिभावकों की आरंभ से ही कुछ सहायता करें। लड़की के भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा में की गई कटौती इसी प्रकार की बचत मानी जाती है।

नारी का अवमूल्यन समूची मनुष्य जाति का अवमूल्यन है, उसकी प्रतिभा, विशिष्टता एवं समृद्धि प्रसन्नता में प्रत्यक्ष कमी करना है। लड़की का व्यक्तित्व यदि घटिया रहने दिया गया तो वह जिस भी परिवार में जाएगी। जिस भी लड़के के साथ रहेगी, उसकी उतनी सहायता न कर सकेगी जितनी कि विकसित होने की दशा में कर सकती थी। घटिया मनःस्थिति रहने पर विचार पद्धति घटिया रहती है और क्रिया कलाप भी गये-गुजरे बन पड़ते हैं। ऐसी दशा में बाप के घर उपेक्षित रही लड़की ससुराल में जाकर भी न महत्त्वपूर्ण हो सकती है न यशस्वी। उसे पाकर ससुराल वाले भी उतने प्रमुदित नहीं होते जितना कि वधू के प्रतिभावान होने पर हो सकते हैं। जिसके द्वारा अपेक्षा से कम लाभ मिलता है उसका मान, मूल्यांकन भी कम होता है। पिता के घर मिली उपेक्षा ससुराल में भी साथ जाती है और जैसा अपमान पिता के घर सहना पड़ा था वैसा ही ससुराल में भी सहना पड़ता है। फसल बोने, उगाने, सींचने, बड़ा

करने की जिम्मेदारी तो अभिभावकों के घर पूरी हो जाती है। ससुराल वाले तो फसल काटने आते हैं। यदि बुवाई, निराई, सिंचाई, रखवाली में उपेक्षा बरती गई है तो उस फसल का समुचित लाभ काटने, बटोरने वालों को भी कैसे मिल सकता है और अपने भाग्य को कैसे सराहा जा सकता है ? बच्चों के नामकरण घर वाले ही करते हैं। जो नाम अभिभावकों ने रखा है उसी से बाहर वाले भी पुकारते हैं। यदि माता-पिता कन्या के अवतरण को भाग्यहीनता का चिह्न मानते रहे हैं तो पड़ौसी, संबंधी, ससुराल वाले ही क्यों उसे भाग्यवान समझने लगे और क्यों सम्मान देने लगे ? इस प्रकार अपनी कन्या का भविष्य अंधकारमय, गया-गुजरा बनाने की जिम्मेदारी प्रकारांतर से उन अभिभावकों की ही पड़ती है, जिन्होंने उसे दुर्भाग्य सूचक माना और लड़के की तुलना में अपेक्षाकृत गया-गुजरा व्यवहार किया।

माता के लिए तो इस प्रकार की मान्यता और पक्षपात भरी नीति अपनाना और भी बुरा है। वह स्वयं भी तो नारी है। किसी नारी के ही पेट से पैदा हुई है। यह उसकी अपनी बिरादरी है। देखा गया है कि समान गुण, स्वभाव वाले अधिकं जल्दी हिल-मिल जाते हैं और एक-दूसरे के साथ प्रसन्नता अनुभव करते, सहायक बनते हैं। इस परंपरा के अनुसार महिला बिरादरी को तो कन्या जन्म पर अधिक प्रसन्नता व्यक्त करनी चाहिए क्योंकि उन्हीं की बिरादरी में संख्या वृद्धि हुई है। पर देखा उलटा जाता है। पुरुष भले ही इस बात को अधिक महत्त्व न दे, पर स्त्रियाँ सिर आसमान उठा लेती हैं। दादी, चाची, ताई, बुआ आदि सबके मुँह पर उदासी छा जाती है। जननी को कोसती, लांछन लगाती भी देखी जाती हैं। उन्हीं का अनुकरण पड़ौसी संबंधी भी करते हैं। इस प्रकार उस जननी को उल्टा लांछित होना पड़ता है, जिसने इतना कष्ट सहकर उस बालक को जन्म दिया। जान-जोखिम उठाई। शरीर को निःस्वत्व बनाया। ऐसे लांछन को सरासर अत्याचार ही कहना चाहिए।

कुछ समय पहले किन्हीं विशेष वर्गों में कन्या को जन्मते ही मार देने का रिवाज था। अँग्रेज सरकार ने इसके विरुद्ध कानून बनाया था। अब नया रिवाज चला है। नई मशीनें ऐसी आई हैं जो

गर्भकाल में ही लड़के-लड़की का पता लगा लेती हैं। इसका परीक्षण कराने वालों में से कितने ही ऐसे निष्ठुर अभिभावक होते हैं जो कन्या का पता चलने पर उसका गर्भपात करा देते हैं। यह भी एक प्रकार का कन्यावध ही हुआ। अल्प आयु में विवाह करके अपने कूड़े को पराए आँगन में पटक देने जैसा हुआ। इससे अभिभावक सोचते हैं कि उनकी रोटी-कपड़े की बचत हुई। ससुराल वाले सोचते हैं कि बालकपन से ही काम में जुटेगी तो उसी ढाँचे में ढल जाएगी, बड़ी होने पर आना-कानी न करेगी। पढ़ने-पढ़ाने का झंझट भी न रहेगा, जिससे कुछ कह सकने या कर सकने की बात न सोच पाए और सिर न उठा पाएगी।

पालतू कबूतरों के पैर पंगु कर दिए जाते हैं। वे उड़ नहीं सकते। आँगन में या पिंजड़े में ही घूमते-फिरते रहते हैं, काबू से बाहर नहीं हो पाते। पालने वाले उनका चाहे जब चाहे जैसा उपयोग कर सकते हैं। उड़ जाने, हाथ से निकल जाने का कोई खतरा नहीं रहता। ओछी बुद्धि यही सोचती है कि स्त्रियों के स्वावलंबी, शिक्षित एवं सुयोग्य बनने में उनसे खतरा है। वे किसी सीमा तक स्वतंत्रता की माँग कर सकती हैं। स्वावलंबी होने की सामर्थ्य संचय कर सकती है इसलिए उन्हें कई तरह के बंधनों में आरंभ से ही बाँध दिया जाए। उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा न दी जाए। घूँघट पर्दे में, घर के पिंजड़े में कैद रहने का आदी बना दिया जाए। छोटी उम्र में जननी बना दिया जाए और बच्चों का भार लाद दिया जाए। ऐसी दशा में उनकी पराधीनता पूरी तरह पक्की हो जाती है। जिस भी स्थिति में रखा जाए, जैसे भी रहना पड़े, उसी में उन्हें बिना सिर हिलाए रहना पड़ता है। यह स्थिति इसलिए भी पैदा की जाती है कि नारी नर की तुलना में सुंदर होती है। अनेक मनचले उनकी ओर दृष्टि डालते हैं। बहकाते-फुसलाते हैं। इस फेर में नारी का मन बदलने न लगे इस आशंका को ध्यान में रखते हुए उसे हर दृष्टि से पराधीन, दुर्बल, असमर्थ, अपंग स्तर की बना दिया जाता है ताकि वह विपत्ति में फँसी रहने पर भी रोने-कलपने के अतिरिक्त और कुछ सोच या कर न सके।

यह है अभिभावकों का कन्या के प्रति अत्याचार जिसे पाशविक कहा जा सकता है। पशु-पक्षी बच्चों को जन्म देने के बाद कुछ ही दिन सँभालते हैं। अपने पैरों चलने-फिरने योग्य होने पर अपनी जिंदगी जीने और अपनी मौत मरने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते हैं। ऐसा व्यवहार लड़कों के साथ नहीं पर लड़कियों के साथ अवश्य किया जाता है। इसमें दोषी पुरुष भी हैं, जो वैसा करने से रोकते नहीं। पर अधिक दोषी घर की समर्थ महिलाएँ हैं। वे स्वयं जिस प्रकार का प्रताड़ित जीवन जीती रही हैं। उसी भड़ास को नवागंतुक, लड़कियों या वधुओं पर निकालना चाहती हैं। जो बच्चे स्कूल में मास्टरों से अधिक पिटते रहते हैं, वे ही बड़े होने पर जब मास्टर बनते हैं तो अपने छात्रों को पीटते हैं। इसमें उनके बचपन के संस्कार जो दबे हुए थे उभरते हैं और पीटने वाले मास्टर से बदला न ले पाने पर छात्रों को सताकर पुरानी रंजिश निकालते हैं। इसी प्रकार बड़ी आयु की महिलाएँ अपने बचपन में जो सहती रही हैं, उसी का बदला अबोध बालिकाओं से चुकाती हैं।

इस कुचक्र को तोड़ा जाना चाहिए। महिलाएँ अपना आत्म गौरव स्मरण करें। कर्त्तव्य मानें कि बच्चों में लड़की-लड़के का फर्क न करें। दोनों को समान महत्त्व का, समान उपयोगी और समान स्नेह भाजन समझें। दोनों के विकास एवं दुलार में पूरी-पूरी दिलचस्पी एवं भाव संवेदना रखें। प्यार का विस्तार शरीर और परिवार की तरह बालकों में भी होना चाहिए। अपनी निष्कपटता के कारण सचमुच वे ही सच्चे प्यार के अधिकारी हैं।

❐ ❐

कन्या और वधू को कम दुलार न मिले

माता और बच्चे के बीच जो वात्सल्य होता है, उसे मनुष्य-मनुष्य के बीच पाए जाने वाले प्यार में सर्वोत्तम स्तर का कहा जा सकता है। यह एकाकी होता है। बच्चा तो प्रेम का स्वरूप महत्त्व तक नहीं जानता। प्रतिपादन की तो संभावना ही कहाँ रहती है ? माता को अकेले ही अपना प्रेमपक्ष चरितार्थ करना पड़ता है। वही अपनी आत्मीयता का आरोपण बालक के ऊपर करती है और उसके सुख-दुःख में साझीदार रहती है। अपने अंतराल से निकला प्रेम, बालक से टकराकर वापिस लौट आता है। इसे अपनी ही आत्मा की प्रतिध्वनि, प्रतिच्छाया भी कह सकते हैं। इसे मापदंड माना जा सकता है। किसका प्रेम कितना असली और कितना नकली है इसकी जाँच पड़ताल इसी आधार पर की जा सकती है। प्रतिदान की प्रतीक्षा किए बिना—आशा रखे बिना यह नितांत संभव है कि एक पक्षीय प्रेम निभता रहे और जिसमें प्रतिदान की अपेक्षा है समझना चाहिए कि यह व्यवसाय हुआ। व्यवसाय में आदान के साथ प्रदान की शर्त जुड़ी रहती है। पैसे के बदले बाजार से वस्तुएँ खरीदी जाती हैं। वस्तु न हो तो कोई पैसा क्यों देगा ? वस्तु हो किंतु पैसा चुकाने का प्रबंध न हो सके तो भी समझना चाहिए कि गाड़ी रुक गई। प्रेम में जहाँ उभयपक्षीय समानता की आशा की जाती है, उसे व्यवसाय स्तर का उपक्रम ही माना जाए।

सर्वप्रथम प्रेम का आत्म-विस्तार काया की परिधि से होता है। शरीर जिस प्रकार निरोग, परिपुष्ट और दीर्घजीवी बने उसके लिए मन को संयम बरतना चाहिए। प्राकृतिक अनुशासन पालन करना चाहिए। इंद्रियों के बहकावे, फुसलावे में नहीं आना चाहिए। जिह्वा और जननेंद्रिय की लिप्सा को काबू में रखा जाए। श्रम-विश्राम का संतुलन बिठाए रहा जाए, उद्विग्नताओं के आवेश में संतुलन न खोया जाए। हँसते-हसाते रहा जाए और प्रसन्नता के वातावरण में हलकी-फुलकी

रीति-नीति अपनाते हुए जीवनचर्या को सुव्यवस्थित रखा जाए तो कहा जाएगा कि मन के माध्यम से चेतना ने काया के प्रति अपना कर्त्तव्य, धर्म ठीक तरह निभाया। प्रेम में मित्र को प्रसन्न करने की बात को जितना महत्त्व दिया जाता है, इतना ही इसका भी ध्यान रखा जाता है कि साथी को कुमार्ग पर चलने की ढील या छूट तो नहीं दी गई। हित साधन के लिए सुविधाएँ उत्पन्न करना ही एक मार्ग नहीं है वरन् उसके साथ सुधार के द्वारा सुखद संभावनाओं का भी सुयोग बिठाया जाता है। संयम का अंकुश इसी निमित्त है। इससे हाथी भी सही मार्ग पर सुरक्षापूर्वक चलता है और चलाने वाले का भी अभीष्ट प्रयोजन पूर्ण होता है। जिह्वा और जननेंद्रिय का संयम पालने से काया को रुग्णता नहीं घेरने पाती। जो स्वाद के फेर में पेट से अधिक मात्रा में अभक्ष खाते हैं, उनका पाचनतंत्र बिगड़ जाता है। कामुक कल्पनाओं और क्रियाओं में डूबे रहने वाले मनोबल गँवा बैठते हैं। ओजस्, तेजस् और वर्चस् की क्षति सहते हैं। कम श्रम करने वाले या अधिक दबाव में रहने वाले भी आरोग्य लाभ से वंचित रहते हैं। काया की स्वच्छता ही उसकी सुंदरता एवं सुसज्जा है। निर्मल वातावरण में रहा जाए। निर्मल उपादानों का उपयोग किया जाए। यह काया के साथ मन की प्रीति निभाए जाने की प्रक्रिया है।

प्रेमधारियों में एक सबल पक्ष होता है दूसरा कुछ निर्बल। सबल पक्ष का दायित्व अधिक है। माता की जिम्मेदारियाँ अधिक हैं, बालक की कम। मन का दायित्व अधिक है, शरीर का कम। मन के आदेशों पर काया चलती है। विकृतियाँ मन में पैदा होती हैं। बाद में उस आदेश का अभ्यास शरीर को भी हो जाता है। आदतें इसी प्रकार बनती हैं। उनमें मन के आदेश को ही प्रमुख माना जाता है। शरीर तो अभ्यास होने पर ही उस आदत को पूरी करने का अनुरोध करता है। मन चाहे तो उस आग्रह को अस्वीकार भी कर सकता है। माता और बच्चे की तरह मन और शरीर का भी प्रेम संबंध है। इसकी सफलता तभी मानी जाती है, जब सबल पक्ष दुर्बल पक्ष को प्रसन्न नहीं रखे वरन् प्रेम पाठ की प्रगति के लिए ऐसे विधान भी करे तो प्रत्यक्षतः अप्रिय भले ही लगें पर अंततः उत्कर्ष, अभ्युदय में

सहायक सिद्ध होते हैं। प्रेम में सुधार के लिए संयम बरतने, अंकुश लगाने की भी गुंजायश है।

प्रेम विस्तार का तीसरा चरण दांपत्य जीवन के साथ जुड़ता है। आम आदमी इसे यौनाचार की कानूनी परवानगी के रूप में देखते, सोचते एवं व्यवहार में लाते हैं। पर यह बहुत ही घटिया दृष्टिकोण है। इस उत्तेजना की पूर्ति तो वेश्याएँ और भड़ुए भी करते रहते हैं। उनके बीच शरीर ही खरीदे-बेचे जाते हैं। चापलूसी का निरर्थक शब्दावलंबन चलता है। कौन किसका कितना दोहन कर सकता है ? इसी दाँव पर बाजी लगी रहती है। लाभांश में जितने कमी पड़ती दीखती है, उसी अनुपात से वह उपेक्षा बरतने लगता है। खोखलापन दीख पड़ने पर मुँह मोड़ लिया जाता है। इस प्रसंग में प्रेम शब्द का उपयोग बार-बार होता है किंतु उसका तात्पर्य स्वार्थ सिद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

यह अनाचार दांपत्य जीवन में भी चलता देखा गया है। पत्नी के लिए तो लोक-लाज, धर्म भावना, भीरुता, अवसर का अभाव जैसे अनेक कारण आचरण की रक्षा के लिए मजबूत दीवार की तरह बने रहते हैं और वह अभ्यास के अभाव में सारा जीवन किसी प्रकार काट लेती है किंतु पति पर उतने बंधन न होने पर वह परनारी गमन तक उतर आता है। बात यहाँ तक बढ़ती है कि पत्नी के साथ भी वह वैसी ही रुखाई बरतता है जैसे चिर-परिचित-जानी-पहचानी, वेश्या के साथ उपेक्षा बरती जाती है। उठती उमंगों के दिनों में जिस प्रकार की मनुहार होती थी, उसका दर्शन भी दुर्लभ हो जाता है। विवाह-बंधन में बँधे होने के कारण बच्चों की देखभाल और गृह व्यवस्था के कारण काम तो उसी से चलाना पड़ता है, पर संबंधों में गहराई न होने के कारण वह व्यवहार लकीर पीटने जैसा थोथा बनकर रह जाता है। वह मिठास नहीं रहती जिसका रसास्वादन करके अंतःकरण पुलकित होता रहता है। जिसके कारण दो शरीर एक प्राण वाली उक्ति चरितार्थ होती है। उथले प्रेम में ही वह स्थिति बनती है, जिसमें मन फट जाते हैं और शरीर संपर्क बना रहने भी तलाक से भी बुरी स्थिति बन जाती है। विदेशों में यह प्रचलन है कि असंतुष्ट पति-पत्नी तलाक ले लेते हैं और अलग रहने तथा नया घर

बसा लेने की छूट प्राप्त कर लेते हैं। पर यहाँ की परिस्थितियाँ भिन्न हैं। विवाह के बाद कुछ ही दिनों में कई बच्चे हो जाते हैं। घोषित या अघोषित तलाक लेने पर इन बच्चों के भरण-पोषण तथा भविष्य का प्रश्न उत्पन्न होता है। विदेश में सरकारी अनाथालय हैं, जिसमें कोई भी अपने बच्चों को भर्ती करके सर्वथा स्वतंत्र हो सकता है। इन बच्चाघरों में बालकों के निर्वाह का खर्च संपन्न लोग जमा करते रहते हैं। न दे सकने की स्थिति में सरकार की ओर से वह व्यवस्था बन जाती है, पर अपने देश में तो वैसा भी कुछ नहीं है। परित्यक्ताओं या उपेक्षिताओं के बच्चे जहाँ-तहाँ दिन काटते हैं। माता-पिता के बीच खींचतान रहने की स्थिति में बच्चों की मनोदशा पर भी बुरा असर पड़ता है। उसमें अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। घुटन के कारण वे दबे-सहमे रहते हैं। रोटी का प्रबंध भले ही पिता की ओर से हो या माता द्वारा अन्य किसी आधार पर किया जाए, इतना निश्चित है कि ऐसी परिस्थितियों में बालक का मनोबल टूट जाता है। वे दब्बू, दुर्गुणी या आवारा हो जाते हैं। ऐसे बालक अपने लिए, अपने अभिभावकों के लिए एवं समाज के लिए अभिशाप बनकर ही रहते हैं। जिन विवाहों का आधार रूप-सौंदर्य या यौनाचार होता है, उनका भविष्य ऐसे अंधकार में घिरा रहता है।

मनुष्य के एक सिरे पर दिव्य संभावनाओं से भरा-पूरा मस्तिष्क है तो दूसरे पर मल-मूत्र के दुर्गंध भरे छिद्र भी। एक कक्ष में देवता का निवास तो दूसरे में शैतान भी रहता है। माँ बच्चे के प्रति वात्सल्य प्रकट करती है, तब वह देवता होती है किंतु जब कन्या पुत्र का अंतर करके एक को दुलार, दूसरे को तिरस्कार देने लगती है तो उसका शैतान पक्ष उभर आता है। बालक ईश्वर की प्रतिमूर्ति है। छल-छिद्र से, दोष-दुर्गुण से रहित हृदय संत-साधुओं का होता है। उन्हीं में भगवान की झांकी मिलती है। ईसा के शिष्यों ने जब भगवान के दर्शन कराने का आग्रह किया तो उन्होंने एक छोटे बालक को गोदी में उठाया और कंधे पर बिठाकर सबको दिखाया कि मनुष्य आकृति में यही भगवान है। उसका कथन सच था। निर्मल अंतःकरण वाला शिशु भगवान ही हो सकता है। इस विशेषता में कन्या लड़के की अपेक्षा कहीं उत्कृष्ट होती है। ऐसी ही भावनाओं के

कारण नर की तुलना में नारी को अपेक्षाकृत अधिक सहिष्णु, विनम्र, संयमी, सेवाभावी बताया है। वे बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की दृष्टि से भी कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है। अपराधों की गणना में नारी को दस प्रतिशत और पुरुष को नब्बे प्रतिशत अनाचारों में लिप्त पाया गया है। छोटी कन्याओं में तो मृदुलता सुषमा और भी अधिक बढ़ी-चढ़ी होती है। इसलिए दुलार-संरक्षण उन्नयन न्यायानुसार उन्हीं का अधिक होना चाहिए। पर होता ठीक इससे उल्टा है। पिता के अतिरिक्त परिवार के अन्य पुरुष भी लड़की के जन्म को दुर्भाग्य मानते हैं, क्योंकि वह पालने-पोसने के बाद दूसरे घर की हो जाती है और साथ ही कुछ दान-दहेज भी साथ ले जाती है। इस अर्थप्रधान दुनियाँ में लड़की के प्रति एक समय उपेक्षा भाव समझ में आता है, पर दूसरी ओर जब दृष्टि दौड़ाई जाती है कि किसी दूसरे की पाली-पोसी लड़की वधू के रूप में अपने घर में आई है और वह कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है, तब यह समझा जा सकता है कि किसी के घर कन्या न जन्मी हो तो अपने घर में वधू कहाँ से आ जाती ? अपनी कन्या दूसरों के घर जाती है तो दूसरे की लड़की अपने घर आती भी तो है। यह तो आदान-प्रदान मात्र हुआ। इसमें घाटा कहाँ ? लाभ कहाँ ? अदूरदर्शिता ही ऐसी दृष्टि उत्पन्न करती है, जिसमें लड़की घटिया प्रतीत होती है और लड़का बढ़कर। वस्तुतः हर दृष्टि से लड़की का दर्जा ही बड़ा है। लड़के शिक्षा, शादी और व्यवसाय उत्तराधिकार में घर खाली करा लेते हैं और जैसे ही कुछ कमाने योग्य हो जाते हैं, पत्नी को लेकर अलग रहने लगते हैं। छोटे भाई-बहिनों की शिक्षा, शादी में कदाचित ही परिवार को कुछ सहायता देते हैं। जवानी में ही बूढ़े बाप का कारोबार हथिया लेते हैं और उन्हें एक-एक पैसे के मुहताज बना देते हैं। अधिकांश परिवारों में यही उपक्रम अपनाया गया दीखता है। सतयुगी श्रवणकुमार लड़के तो कदाचित ही किसी भाग्यवान् के घर में उत्पन्न होते दिखाई देते हैं। तिरस्कृत, उपेक्षित, असमर्थ माता-पिताओं की सेवा समर्थ लड़कियाँ भी कर सकती हैं। यह रिवाज तो मनुष्यों ने उस दृष्टि से बनाया है, जब वे ससुराल वाले होते हैं और चाहते हैं कि कन्या के घर से सदा मिलता ही मिलता रहे। ऐसी नौबत न आए कि कन्या पक्ष के

मुसीबत फँस जाने पर उनकी कहीं सहायता न करनी पड़े। वस्तुतः ऐसी कुछ बात नहीं हैं। बेटी और बेटे में कोई अंतर नहीं। असमर्थ माता-पिता की लड़कियाँ भी उसी प्रकार सेवा सहायता कर सकती हैं जैसे कि लड़के करते हैं। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे अनुचित कहा जा सके।

विपन्न परिस्थितियों में कितनी ही जगह ऐसा भी होता है कि पिता के न रहने पर कमाई का स्रोत बंद हो जाता है, तब बड़ी आयु की लड़कियाँ नौकरी करके अपने छोटे भाई-बहिनों का निर्वाह तथा शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध करती हैं। अपनी आयु ऐसी ही कुमारी अवस्था में बिता देती हैं। इन आदर्शों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि लौकिक दृष्टि से भी कन्या का महत्त्व लड़कों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।

आश्चर्य तो तब होता है जब घर की महिलाएँ भी कन्या जन्म पर बुरा मानती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि वे स्वयं भी किसी की लडकी हैं। किसी महिला के पेट से ही जन्मी हैं। जब वे अपने अस्तित्व को सही मानती हैं तो नई जन्मी कन्या को ही क्यों असह्य ठहराती हैं। होना यह चाहिए कि पुरुषों द्वारा उपेक्षित और तिरस्कृत नारी को उसकी बिरादरी द्वारा तो समर्थन मिले ही, हिमायत और सिफारिश के लिए उनका वर्ग तो आगे आए ही। पर होता उलटा है। विवाह शादी के समय लड़कों के लिए अधिक सुंदर और अधिक मालदार लड़की तलाशने में महिलाएँ ही सबसे अधिक नुक्ताचीनी करती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि यदि उनकी लड़की असुंदर रही होती, यदि वे दहेज की लंबी रकम देने में असमर्थ होते तो उन पर क्या बीतती ? दहेज कम मिलने पर, बहू के असुंदर आने पर तानाकशी सास-ननदें ही अधिक करती हैं। उस समय उन्हें अपनी बेटी की स्थिति ध्यान में नहीं रहती। घरेलू लड़ाई-झगड़ा में भी सास बहू के बीच ही खटकती रहती है। इसमें दोष सास का अधिक और बहू का कम होता है। सास द्वारा यदि बेटी जैसा दुलार देकर गलतियों को प्यार से समझाने और हल्के-फुलके सुधारने, सिखाते रहने की नीति अपनाई जाए तो वधू अल्हड़ होने पर भी कुछ दिनों में सुधर जाती है। पर यदि बात का बतंगड़ बनाया जाए, अपमानित

और लांछित किया जाए तो बात बढ़ने और स्थित खटकने जैसी हो जाती है।

पति-पत्नी का प्यार, सहकार मधुर बना रहे—इसके लिए आवश्यक है कि घर के बड़े उनके दोष गिनाकर भड़काए नहीं। वरन् यदि गुणों के संबंध में नमक मिर्च तक मिलानी पड़े तो उसमें संकोच न करें। पति को वधू की अच्छाइयाँ बताई जाएँ और वधू को पति की, ताकि वे एक-दूसरे की उपयोगिता समझें और समुचित सम्मान और सहयोग प्रदान करें। भूलों को दर गुजर करने की आदत डालनी चाहिए। दोषों को अकेले में तो कहा जा सकता है पर उन्हें बदनामी का रूप देकर लांछित करने में विद्वेष बढ़ता है और वह बढ़ते-बढ़ते कहीं से कहीं पहुँचता है। कोई-कोई सास ऐसी होती हैं जो अपने बेटे से बहू की निंदा, चुगली करने में तिल का ताड़ बनाती हैं। दोनों के बीच खाई खड़ी करती है। इसका परिणाम तत्काल उनकी मर्जी का भले ही हो, पर पीछे तो परिणाम सामने आते हैं, उनमें उन्हें तथा समूचे परिवार को पश्चात्ताप करना पड़ता है। सास से झगड़ा प्रसिद्ध होने पर उनकी छोटी लड़कियों की शादी में कठिनाई पड़ती है। सोचते हैं कि ऐसी कलह करने वाली के घर में अपनी बेटी देना और उसके जैसी लड़ने वाली लड़की बुलाना अपने लिए जान-बूझकर संकट मोल लेना है। घर में शांति और स्नेह का वातावरण बनाने में घर की बड़ी-बूढ़ी महिलाओं की अधिक भूमिका रहती है। इसलिए समझाया मात्र नई उम्र वालों को ही नहीं। बढ़े-बूढ़ों को भी बिना उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाए, उन्हें घर के बुद्धिमान सदस्यों को समझाने-बुझाने का क्रम जारी रखना चाहिए। उपेक्षा करने या रूठकर बैठ जाने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि नव वधू से लेकर देवरानी, जिठानी, सास, ननद सभी को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता रहे कि वे हिल-मिलकर रहें। सास-बहू का आभास न होने देकर के माता पुत्री का बरताव करें। इसी प्रकार देवरानी, जिठानी, ननद के बीच भी बहिनों-सहेलियों जैसा स्नेह-सहकार रहना चाहिए। वे सभी मिल-जुलकर रहें। एक-दूसरे को स्नेह सहयोग प्रदान करें। सम्मान सहकार में कमी न आने दें। इसी

प्रकार बड़े परिवार छोटे परिवार की अपेक्षा अधिक प्रसन्नता और सुविधा के केंद्र बने रहते हैं।

कई बार वधू की माता, बहिन, भावज चुपके-चुपके यह शिक्षा भी देती हैं कि पति को चतुरतापूर्वक परिवार से अलग रहने के लिए कहती रहे। सम्मिलित रहने में असुविधा तथा कठिनाई बनाती रहे। इस प्रकार की शिक्षा यदि माँ के घर से दी जाती रहती है। जमाता को भी उसी प्रकार की सलाह दी जाती रहती है तो इसका परिणाम अंततः यही होता है, वे लोग उसी घर में या अन्य घर लेकर अलग रहने लगते हैं। इसमें कमाई को अपने ऊपर खर्चने से शौक-मौज के कुछ साधन तो अवश्य बढ़ जाते हैं। पर नई मुसीबत यह आ खड़ी होती है कि अकेली कोठरी बंद रहने वाले कैदी जैसी एकाकी जिंदगी जीनी पड़ती है। हँसते-बोलते संयुक्त परिवार में जो दिन कटता था वह सुविधा छिन जाती है। हारी-बीमारी के समय "अपनी जिंदगी जीना-अपनी मौत मरना" की कहावत चरितार्थ होती है। बच्चे होने पर उन्हें संभालने में जो सारा घर लगा रहता था वह सहकार छिन जाता है और प्रसूति के दिनों में भी विश्राम का अवसर न मिलने पर उठकर काम-काज करना पड़ता है। उस स्थिति में पता चलता है कि एकाकी रहने की अपेक्षा सम्मिलित परिवार में मिल-जुलकर रहना कितना नैतिक, कितना सामाजिक, कितना हँसी-खुशी का है ? उसमें परिवार के प्रत्येक सदस्य को दूसरे साथी सदस्यों से परामर्श मिलता रहता है। सद्गुणों को बढ़ाने के लिए काफी गुंजाइश रहती है। परिवार के सभी सदस्य फलते-फूलते हैं और प्रगति के मार्ग में आगे बढ़ जाते हैं। मियाँ बीबी की छोटी इकाई इतनी सुविधा प्राप्त नहीं करती जितनी कि सज्जनों के समुदाय में साथ-साथ रहने पर उपलब्ध होती है।

❐ ❐

विवाह के साथ जुड़े हुए दायित्व

विवाह दो आत्माओं का मिलन है। उसके साथ जीवन यापन की लंबी योजना सन्निहित रहती है। इसमें स्नेह सम्मान सहकर ही प्रधान आधार होते हैं। समझदारी के साथ एक-दूसरे को निभाया और आगे बढ़ाया जाता है। गलतियों को या तो अकेले में हल्की मुद्रा में समझा दिया जाता है या फिर हँसी-विनोद में हल किया जाता है। गुणों को आगे रखा जाता है। सेवाभाव और भावनाओं को महत्त्व दिया जाता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सामान्य स्तर का नर-नारी भी साथी के रूप में उपयोगी और भला ही सिद्ध होता है। अपनी आँखों पर रंगीन चश्मा चढ़ा हो तो दीखने वाली सभी वस्तुएँ उसी रंग में रंगी हुई प्रतीत होती हैं किंतु जब चश्मा उतार दिया जाता है तो वस्तुएँ अपने स्वाभाविक रूप में दिखाई पड़ने लगती हैं। पति और पत्नी के भीतर में भी वही बात है। यदि उसे कल्प वृक्ष समझा जाए और श्रद्धापूर्वक सींचा जाए तो निश्चय ही उसके गुण बढ़ते और दोष घटते जाएँगे। स्थिति निरंतर सुधरती और सुखद बनती जाएगी।

किंतु यदि विवाह के पीछे उत्कृष्ट दृष्टिकोण न हो और मात्र काम-क्रीड़ा के लिए आधार माना गया हो तो आरंभ से ही उस रस में विष घुलने लगता है। देखा गया है कि कई मनचले लड़के अधिक सुंदर वधू तलाशते हैं और इसके लिए घर के अभिभावकों तक पर विश्वास न करके स्वयं अपनी आँखों से देखना चाहते हैं कि जितनी कल्पना थी उतनी सुंदर है या नहीं। कहीं कोई कमी दीखती है तो अस्वीकृत कर देते हैं। इस प्रकार अनेकों को देखने और अस्वीकृत करने का सिलसिला चलता रहता है। मुश्किल से ही कोई लड़की पसंद आती है। उनकी परख का मापदंड सिनेमा की शोख नर्तकियों की मुखमुद्रा ध्यान में रहती है। उन्हें तो बनाव शृंगार की आकर्षक मुख मुद्रा बनाने की विशेष रूप से ट्रेनिंग दी जाती है। कुलीन घरों

की शालीन कन्याएँ तो जैसे-जैसे वयस्क होती जाती हैं वैसे-वैसे अधिक संकोची लज्जाशील बनती हैं। शालीनता का यही चिह्न भी है। किंतु मनचले लड़कों की कसौटी तो वैसी ही उच्छृंखल सजधज और चेहरे की बनावट होती है जैसी कि उन्होंने फिल्मों में देखी हैं। फिल्म नर्तकियाँ भी कैमरे के सामने ही उतनी आकर्षक बनकर आती हैं। शेष समय तो वे भी घर परिवार में सामान्य तरीकों में ही रहती हैं पर मनचले लड़कों को वधू का चयन करते समय ऐसी सुंदरता एवं मुख मुद्रा चाहिए। ऐसे लड़के या तो बड़ी उम्र तक क्वाँरा रह जाते हैं या फिर कहीं ऐसे फेर में फँसते हैं कि शक्ल तो देखते रहे पर घर-गृहस्थी के काम में उन्हें सर्वथा अनुपयुक्त पाया।

लड़कियों को जब यह पता चलता है कि शिक्षा की योग्यता का गुण, वचन की कुशलता का, वफादारी का कोई मूल्य नहीं दुनियाँ में शक्ल सूरत ही सब कुछ है तो वे इसी बात को सच मानने लगती हैं और पति के रूप में किसी देव यक्ष की न सही कम से कम किसी अति सुंदर फिल्मी एक्टर की कल्पना तो करने ही लगती हैं। इससे कम आकर्षण वाले को वे भी रद्द करती रहती हैं। उनके मन में भी मनचले लड़कों की तरह एक स्वयंवर घूमता रहता है, जिसमें अति से बढ़कर अतिशय सुंदरता को ही वर माला डालने का मन होता है। वैसे लड़के-लड़कियाँ अपने इलाके में एक प्रतिशत ही देखने को मिलते हैं। यह उष्ण देश है। शक्ल सूरत की दृष्टि से भी मध्यम। अपनी माता, बहिन, भावज आदि सभी मध्यवर्ती आकृति-प्रकृति की होती हैं, पर कोई मनचले जब परी अप्सरा ढूँढ़ते हैं तो उनके सामने साधारण कठिनाई नहीं होती। चुनाव में रद्द करते-करते हैरान हो जाते हैं। मिल भी जाए तो उन्हें अपने रूप का अहंकार भी होना स्वाभाविक है, वे अपने को पूरे परिवार में कटी-फटी इंद्र की बेटी मानती हैं। उसी अनुपात में अपने लिए राजा-रईसों जैसी सुविधा माँगती हैं और शृंगार की बढ़ी-चढ़ी फरमायशें करती हैं। यदि वर सुंदर न हुआ, चौबीस घंटे चापलूसी में न लगा रहा, सुविधाओं के अंबार न लगाता रहा तो समझना चाहिए कि खैर नहीं। अपने जितनी सुंदर वर न मिलने पर उनके तेवर चढ़े रहते हैं और व्यवहार तथा वाणी में अपमान भरे व्यवहार झलकते रहते हैं।

सुंदरता एवं सजधज को प्रदर्शित करना पड़ता है। प्रशंसक और आकर्षित होने वाले इसलिए ढूँढ़ने पड़ते हैं कि उनका आकर्षण चर्चा का विषय बने। यही मोड़ ऐसा है, जिसमें व्यभिचार पनपता है। अपने के प्रति लगाव घटता है और सेवा, अनुशासन से मन उचटता है। यह स्थिति पैदा करने की पूरी जिम्मेदारी मनचलों की है, जिन्होंने अपने दृष्टिकोण के कारण चेहरे की बनावट तथा चंचलता के शोखपन को तो महत्त्व दिया पर यह भूल गए कि यदि स्वयं साधारण रूप होते हुए भी सुंदरी की तलाश में हैं, तो जो वस्तुतः सुंदरी होगी वह कुरूप या साधारण बनावट के पति को क्यों पसंद करेगी ? क्यों न उसे पाकर मन ही मन कुढ़ेगी ? क्यों न अपमानित तिरस्कृत करती रहेगी ? और यदि अवसर मिला तो क्यों न अन्यत्र मन चलावेगी।

यह मध्यकालीन सामंतों का शौक था। वे अपहरण करके सुंदरियाँ तो महलों में समेट लेते थे, पर उन पर सदा संदेह की दृष्टि रखते थे, कड़ाई के बंधनों में जकड़ते थे। महल की कैद से एक पैर भी बाहर नहीं रखने देते थे। यदि इसमें ढील देते तो वे सुंदरियाँ ही जहाँ-तहाँ जुगाड़ भिड़ाकर उस पकड़ने-जकड़ने वाले का खात्मा करा देतीं। इस प्रकार के कत्ल और षड्यंत्र अभी भी होते रहते हैं, उनमें बंधनों में बाँधकर रखी गई सुंदरियाँ ही भयानक भूमिका निभाती हैं। विदेशों में सुंदरता के पीछे पागलपन तो है, पर वहाँ तलाक की छूट है। दो रोज साथ निभा तीसरे दिन छुट्टी ले लीं। वहाँ पर सार्वजनिक प्रचलन हो गया है। न पुरुषों पर कोई रोक है, न स्त्रियों पर। स्त्रियाँ उम्र ढलते ही अपनी कीमत में गिरावट देखती हैं। इसलिए चढ़ती उम्र में ही थोड़े दिनों में ही पति महोदय को इतना दुह लेती हैं कि पीछे उन्हें आर्थिक कठिनाई या उपेक्षा का सामना करने पर भी किसी प्रकार से अर्थ संकट में न फँसना पड़े। पुरुष भी यह सब समझते हैं। इसलिए महँगी चीज खरीदने से पूर्व अपनी जेब टटोलते हैं कि उसमें इतना दम खम है या नहीं। न होने पर मन मारकर बैठे रहते हैं और सस्ते दाम की घटिया से काम चलाकर संतोष करते हैं।

अपने देश की दशा इस सम्बन्ध में विभिन्न है। मनचले लड़के सुंदरी वधू तो तलाश करते हैं पर यह भूल जाते हैं कि इस रूप के साथ सिर्फ जोखिम भरे पड़े हैं।

जिस सुंदरी को चेहरे की चमक-दमक देखकर वर महाशय ने स्वयं पसंद किया है। उस रूप-लोलुप के संबंध में रूपसी के मन में एक संदेह पहले दिन से ही उत्पन्न होता है कि मुझसे बढ़कर सुंदर चेहरा यदि कहीं इसकी पसंद में आ गया तो यह उधर ही लुढ़क जाएगा। इसके मस्तिष्क में गुणवत्ता, चरित्र निष्ठा, सुसंस्कारिता या वफादारी की तो कोई परख है ही नहीं। सद्गुणों का महत्त्व न तो इसने समझा है और न कहीं ढूँढ़ा है। रूप ही सब कुछ इसकी दृष्टि में है। आयु बढ़ने या बच्चे होने के उपरांत तो चेहरे की चमक-दमक भी फीकी पड़ जाती है। इसी दशा में जिस कारण इन दिनों पसंदगी का आवेश चढ़ा है उसके खुमारी की तरह उतर जाने की भी संभावना है। तब यह व्यक्ति बेरुखा भी हो सकता है। उपेक्षा बरतने और मुँह मोड़ लेने में भी पीछे न रहेगा। ऐसे संदिग्ध व्यक्ति पर वफादारी का विश्वास कैसे किया जाए ? भौंरे किसी फूल के सगे नहीं होते, वे बगीचे में अधिक खिले और अधिक सुगंधित फूलों पर मँड़राते हैं। जैसे ही वे मुरझाए वैसे ही वे उड़कर अन्यत्र जा पहुँचते हैं। रूप के लोभी पुरुष भी इसी स्तर के होते हैं। उन्हें अविश्वस्त ही समझा जा सकता है।

जिनका दृष्टिकोण आदर्शवादी होता है वे साथी के चयन में उसके रूप को नहीं, गुणों का महत्त्व देते हैं। सुसंस्कारिता के संबंध में जानकारी प्राप्त करते हैं, वह मिल जाती है तो कुरूप पर भी अपने को निछावर कर देते हैं। गुणों में स्थायित्व है, जिनके प्रणय-बंधन आदर्शों के आधार पर बँधे हैं, उन्हीं के संबंध में यह सोचा जा सकता है कि यह संबंध अंत तक निभेगा और कोई किसी के साथ विश्वासघात न करेगा।

वर-वधू दोनों ओर से ही किसी को साथी के चुनाव में उसके व्यक्तित्व की उत्कृष्टता ही खोजनी चाहिए। रूप को नगण्य महत्त्व देना चाहिए। रूप अस्थिर है सापेक्ष है। गुणों के पीछे आदर्शों के निर्वाह को प्रमुखता दी जाती है और वह गरिमा ही अंत तक निभती है।

माता को अपना कुरूप बच्चा भी दूसरों के अति सुंदर बालकों से बढ़कर लगता है, जिनके बीच गुणों के आधार पर प्रेम पले उन्हें रूप पर ध्यान देने की तनिक भी आवश्यकता नहीं। उनका आदर्श तो तब है, जब अच्छे पक्ष को अपने से कम विशेषताओं वाला पिछड़ा किसी दुर्बलता, कमी वाले संबंध को अपनाकर उसके लिए अधिक सेवा सहायता करते हुए मन जीता जाए और कृतज्ञता का अर्जन किया जाए। ऊँची बात सोचने वाले स्वयं सुयोग्य होते हुए भी साथी की अयोग्यता, कमी या कुरूपता को भी अपनाते हैं, क्योंकि विवाह देने के लिए किया जाता है, पाने के लिए नहीं। सेवा तो उसकी की जाएगी तो अंग-रचना या अन्य शिक्षा कुशलता सुंदरता आदि की दृष्टि से पिछड़ा हुआ हो। निर्धनता आदि कारणों से अच्छे साथी को प्राप्त कर सकने की स्थिति में न हो। ऐसे ही मन को सराहा जा सकता है।

अभिभावक विवाह के समय कन्यादान करते हैं। मनुष्य को समग्र स्वतंत्रता प्राप्त है। उसे जड़-संपदा या पशुओं की तरह न तो खरीदा बेचा जा सकता है और न संपत्ति की तरह दान दिया जा सकता है। कन्यादान का तात्पर्य इतना ही है कि जो उत्तरदायित्व अब तक कन्या के प्रति अभिभावकों के थे, वे अब पति के तथा ससुराल वालों के कंधे पर सौंपे जा रहे हैं। उस महान दायित्व को स्वीकार करने वालों को अनुभव करना चाहिए कि जिस प्रकार पितृ गृह में कन्या को निर्वाह, प्रशिक्षण दुलार आदि मिलता रहा है वैसा ही इससे आगे पति द्वारा ससुराल के समूचे परिवार द्वारा उसे मिलता रहेगा।

इस संदर्भ में सोचा यह जाना चाहिए कि पिता के घर से कन्या जैसा स्वास्थ्य जितना ज्ञान कौशल लेकर आई है, उसमें कमी न पहुँचनी चाहिए वरन् अधिकाधिक अभिवृद्धि होनी चाहिए। यह कार्य मात्र रोटी-कपड़े का प्रबंध कर देने भर से ही नहीं हो जाता। इतना तो मजूर बेगारी को भी मिल जाता है। दिन भर शारीरिक और रात्रि में मानसिक सेवा लेने की कीमत पचास-पच्चीस रुपया तो होनी ही चाहिए। इसके बदले दो-चार रुपया का भोजन वस्त्र देकर उसके ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता। सेवा सहायता की बात सोचनी

है तो बढ़-चढ़कर योजना बनाई जानी चाहिए। वह उसकी मजूरी की तुलना में कहीं अधिक मूल्य की होनी चाहिए।

शारीरिक स्वास्थ्य को अधिक सुडौल अधिक परिपुष्ट बनाए रखने का उपाय यह है कि शरीर को जितना पोषण मिले उसकी तुलना में शक्तियों का क्षय कम हो। श्रम उतना ही करना पड़े जितनी कि उसके शरीर में सामर्थ्य है। दिन-रात काम में जुते रहने पर स्वास्थ्य का क्षरण स्वाभाविक है। दिन में रेसाईदारिन, चौकीदारिन, धोबिन, सफाई वाली आदि के कामों में सारा समय इस प्रकार चला जाए कि साँस लेने की फुरसत न मिले। रात में बच्चों की प्रतिदिन की सेवा करनी पड़े। गई रात तक मर्दों की वापसी का इंतजार करते रहना, आने पर गरम भोजन बनाना, रसोई सफाई से निपटकर बहुत रात गए सोना और प्रातः जल्दी उठकर सफाई, नाश्ता आदि में जुट जाना। यह कार्य शैली ऐसी है, जिसमें फुरसत का नाम नहीं। विनोद विश्राम ज्ञान-वर्धन की गुंजाइश नहीं। ऐसी व्यस्तता में कार्यों का स्वरूप हल्का होने पर भी व्यस्तता के कारण यह भारी हो जाता है और स्वास्थ्य का बढ़ना तो दूर पिता के घर से जैसा शरीर आया था वैसा भी नहीं रहता।

विवाह के उपरांत जल्दी गर्भिणी हो जाना, प्रसव की मर्मांतक पीड़ा सहना, स्तनपान, बच्चों की रात-दिन की देखभाल ये सभी मिलकर स्वास्थ्य को बर्बाद करने वाला दबाव डालते हैं। यह सावधानी बरतने का समय है। बहू को ससुराल की ओर से स्वास्थ्य संदर्भ में दिया हुआ उपहार यही हो सकता है कि उसे आहार-विहार की समुन्नत सुविधा दी जाए और प्रसव में विवाह के उपरांत न्यूनतम पाँच वर्ष बनाए रखा जाए। विवाह से पूर्व वर-वधू जिस मधुर जीवन की कल्पनाएँ करते हैं, वह तभी संभव हैं, जब शरीर और मन दोनों ही क्षेत्रों में उत्साहवर्धक स्थिति बनाए रखी जाए। पुरुष की तरह स्त्री के शरीर की भी परिपक्वता प्रायः पच्चीस वर्ष के उपरांत आरंभ होती है और तीस वर्ष होते-होते वह पूरी हो पाती है। यह अवधि स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के लिए सुरक्षित रखनी चाहिए। इसमें काम-धंधे का, व्यस्तता का, चिंता का, हैरानी का दबाव नहीं पड़ना चाहिए। प्रसव कृत्य में फाँस देने पर खाने-पीने की अच्छाई भी उस दोहन से निचुड़ जाती है और स्वास्थ्य बढ़ने के स्थान पर उससे भी घट जाता

है जैसा कि पिता के घर से जीवनी शक्ति और प्रफुल्लता से भरा-पूरा आया था।

कन्याएँ अपने पिता के घर में कुछ कक्षाओं तक ही शिक्षा प्राप्त करती हैं, पर वह विवाह की जल्दबाजी में उतनी पूर्ण नहीं हो पाती कि ज्ञान की समग्रता या स्वावलंबन की दृष्टि से उसे पर्याप्त कहा जा सके। उचित हो कि जितनी पिता के घर शिक्षा प्राप्त हो गई थी उतनी ही ससुराल वालों की ओर से भी दिए जाने की व्यवस्था हो। विवाह के उपरांत लड़कियाँ उसी प्रकार पढ़ती रह सकती हैं जैसे कि कितने ही लड़के विवाह के पश्चात् भी पढ़ते रहते हैं। स्वास्थ्य की तरह ही शिक्षा भी मनुष्य की संपत्ति है। ये दोनों ही संपदाएँ नर और नारी दोनों को समान रूप से उपलब्ध होनी चाहिए।

कमाने के क्षेत्र में पुरुषों का ही आधिपत्य हो और स्त्रियाँ मात्र घर तक ही सीमित रहें। यह विभाजन अन्यायमूलक है। आजीविका की दृष्टि से स्त्रियों को भी इस योग्य होनी चाहिए कि वे कुछ कमा-धमा सकें। पारिवारिक समृद्धि और अभिवर्धन में कुछ कहने लायक योगदान कर सकें। घर के काम को नर-नारी सभी को मिल-जुलकर करना चाहिए ताकि उसका स्वरूप घरेलू मनोरंजन जैसा हो और दोनों ही पक्षों को अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लिए समान रूप से अवसर मिल सके। किसी को हीनता की अनुभूति न हो और कोई अपने को शहंशाह न समझे।

स्वास्थ्य और शिक्षा की तरह आर्थिक स्वावलंबन भी जीवन की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक है। कई बार ऐसी घटनाएँ घटित होती देखी गई हैं कि पुरुष भरी जवानी में क्षय आदि का शिकार होकर मर गया, स्त्री की गोद में चार छोटे-छोटे बच्चे रह गए। रोज कमाने, रोज खाने की स्थिति में दिन कटते थे। पूँजी के नाम पर घर में कुछ जमा न हो पाता था। मर्द की बीमारी के इलाज में तथा अंत्येष्टि के कर्मकांड में जो कुछ बर्तन जेवर थे, वे भी बिक गए अब बच्चों का पालन तथा विधवा का गुजारा कैसे हो इन परिस्थितियों में उस घर-परिवार पर क्या बीतती है, इसे भुक्त भोगी

ही बयान कर सकते हैं। ऐसी घटनाएँ आए दिन देखने को मिलती रहती हैं।

ऐसी घटनाएँ अपवाद नहीं हैं। अपने देश में आधी जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे जीती है। स्त्रियों में अशिक्षा अभी भी ६० प्रतिशत है। बाल विवाहों पर कानूनी रोक होते हुए भी वे धड़ल्ले से होते रहते हैं। छोटी आयु में विवाह वाली लड़कियों में युवतियों की अपेक्षा जल्दी बच्चे होने लगते हैं। पच्चीस की आयु तक पहुँचते-पहुँचते ये यदि पाँच-छह बच्चों की माँ बन जाएँ तो इसमें कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं है। अच्छे भोजन की कमी, काम की अधिकता और प्रदूषण भरे वातावरण में रहने वालों की अकाल मृत्यु होते रहना भी सामान्य बात हो गई है। ऐसी दशा में आधे दर्जन बच्चों की माता को यदि स्वावलंबन की दिशा में पहले से ही कुछ योग्यता या तैयारी नहीं है तो यही कहा जा सकता है कि विवाह करने वाले ने एक-पूरे परिवार के समुदाय को विपत्ति में झोंक दिया। तथ्यों को ध्यान में रखते हुए महिलाओं में से प्रत्येक को ऐसी योग्यता संपादित करनी चाहिए, जिससे वे अच्छे दिनों में कुछ कमाकर परिवार के निर्वाह स्तर को कुछ ऊँचा उठाने में सहायता कर सकें। आपत्ति काल में अपना और अपने बच्चों का सम्मानपूर्वक गुजारा कर सकें। इसलिए विवाह के उपरांत बधुओं को स्वास्थ्य बढ़ाने, शिक्षा अर्जित करने तथा स्वावलंबन की योग्यता उत्पन्न करने के लिए स्वयं तैयार होना चाहिए और ससुराल वालों में विशेषतया पति से आग्रह करना चाहिए कि वे उन्हें रमणी, कामिनी, भोग्या, चरणदासी बनाकर न रखें, उनकी प्रगति के लिए हर स्तर का प्रयत्न करें।

❐ ❐

दांपत्य जीवन और सहचरत्व

मनुष्य जाति एक है। उसके दो भाग सृष्टि ने नर-नारी के रूप में इसलिए किए हैं कि दोनों एक-दूसरे के सहयोगी बने रहें। कुछ कमी पुरुष में रही है, कुछ कमी नारी में। कुछ आवश्यकताएँ पुरुष की हैं कुछ नारी की। दोनों एक-दूसरे के सहायक सहयोगी बनकर कुछ आवश्यकताओं और अभावों की पूर्ति करते हैं। इतने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि एक-दूसरे से भिन्न है अथवा श्रेष्ठ निकृष्ट हैं। यदि ऐसा कुछ मूल्यांकन करना हो तो वरिष्ठता नारी के हिस्से में ही आती है, क्योंकि वह जगत् जननी है। उसी की कोख से समस्त मनुष्य समुदाय का उद्‌भव हुआ है।

दांपत्य जीवन में पत्नी को उसके गुणों के अनुरूप कितने ही नामों से पुकारा जाता है। परिवार व्यवस्था सँभालने के कारण उसे गृहिणी एवं गृहलक्ष्मी कहते हैं। धर्म, कर्त्तव्यों में सहायक रहने और सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करने के कारण उसे धर्म पत्नी एवं कल्याणी कहा जाता है। काम, विनोद में भागीदार रहने के कारण उसे कामिनी, रमणी नाम दिया गया है। ऐसे-ऐसे अनेक नामों में एक नाम सहचरी या अर्द्धांगिनी शक्ति भी आता है, जो तथ्य की दृष्टि से अधिक सार्थक है। यों कहने को तो उसे जीवन संगिनी, प्राण वल्लभा आदि भी कहते हैं पर उस कथन में अत्युक्ति की मात्रा अधिक है। इतना श्रेय न भी दिया जाए तो उसे सहचरी, सहगामिनी नाम देकर उसे सार्थक बनाया ही जाना चाहिए।

नाव को दो मल्लाह मिलकर चलाते हैं। एक के काबू में बहुत छोटी डोंगी ही आ पाती है। बड़ी होने पर उसके कम-से-कम दो संचालक तो होने ही चाहिए। गाड़ी में दो पहिए ही नहीं होने चाहिए वरन् वे समान भी रहने चाहिए। एक पहिए की गाड़ी नहीं चलती। फिर एक छोटा दूसरा बड़ा हो तो भी परिवहन के प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती। ये भी उदाहरण दांपत्य जीवन पर भी लागू होते हैं।

आवश्यक नहीं कि दोनों का कद, उचाव, मोटाई, शिक्षा, सुंदरता, कुशलता समान हो, दोनों के बीच बहिरंग दृष्टि से अंतर भी हो सकता है। पर भावना की आत्मीयता की दृष्टि से दोनों के बीच इतनी समता होनी चाहिए कि एक-दूसरे के सुख-दुःख में समान रूप से साझीदार रहें, मिल-जुलकर रहें। मन का बोझ बटाएँ और क्रिया-कलाप में सहयोगी, सहायक बनकर बोझ बटाएँ। इतना बन पड़ने पर ही दांपत्य जीवन को सफल, सार्थक माना जा सकता है।

ऐसी साधारण घटनाएँ दिन में कई-कई बार भी घटित हो सकती है, जिसमें मतभेद का आभास मिले। ऐसा भी हो सकता है कि अभिरुचि, आदतें भिन्नता लिए हुए हों। ऐसी दशा में दोनों पक्षों को व्यक्तित्व की स्वाभाविक भिन्नता का ध्यान रखना होता है और उसे निबाहते रहना पड़ता है। भगवान ने दो वस्तुएँ समान नहीं बनाईं। एक ही पेड़ पर लगने वाले असंख्य पत्तों में भी हर एक की बनावट अलग होती है। हर प्राणी की आकृति में भिन्नता पाई जाती है। दो चेहरे एक जैसे कहीं भी नहीं मिल सकते। इसी प्रकार हर किसी का व्यक्तित्व अलग-अलग ढंग का होना चाहिए। सर्वतोभावेन समग्र रूप से कोई नर-नारी एक जैसे नहीं हो सकते। इस प्रकृति संरचना को आरंभ से ही ध्यान में रखना चाहिए और दोनों साथियों के मन में इतनी गुंजायश रहनी चाहिए कि एक-दूसरे के लिए इतनी सुविधा दे कि थोड़ी भिन्नता भी दर-गुजर होती रहे। कोई भी इतना तुनक मिजाज नहीं होना चाहिए कि पूरी तरह से दूसरे को अपना गुलाम समझे और इसका दबाव दे कि उसकी इच्छा ही सर्वोपरि है। उसके पालन में ननुनच नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार का दबाव अस्वाभाविक होने के कारण अनुचित भी है। दो शरीरों का जब तक अस्तित्व रहेगा, तब तक यह स्थिति बनी रहेगी कि किसी कदर भिन्नता बनी रहे। साथ ही इतनी उदार सहिष्णुता भी रहनी चाहिए कि वह निभती भी रहे। हँसते-हँसते उस भिन्नता को एकता के स्तर तक पहुँचाया जा सके। खिचड़ी पकाने में दोनों चावल और दाल का अस्तित्व मिलकर एक हो जाता है किंतु उनका मौलिक स्वरूप फिर भी पहचाना जा सकता है। मिलन होते हुए भी दोनों का अस्तित्व अलग से भी पहचाना जा सकता है, इस दृष्टिकोण को विकसित

किए बिना पति-पत्नी उस स्तर पर नहीं पहुँच सकते, जिसे समता और ममता कहा जा सकता है।

भिन्नता रहते हुए भी दोनों पक्षों की मनःस्थिति संकोचरहित होनी चाहिए। परायेपन में किसी कदर दुराव बना रहता है। इसे दब्बूपन, झेंप, संकोच आदि नाम भी दिए जा सकते हैं। यह अस्वाभाविक स्थिति तभी तक टिकती है, जब तक परायेपन का भेदभाव रहता है। इसके रहते-रहते जी खोलकर अपनी बात कहने और दूसरों की सुनने का अवसर नहीं आता। विचार-विनिमय का सिलसिला चलते रहना चाहिए। आग्रही किसी को भी नहीं होना चाहिए। तर्क, तथ्य, विवेक और औचित्य की कसौटी मानकर मतभेदों को एक-दूसरे के सामने प्रकट करते रहा जाए। दूसरे के कथन को भी महत्त्व दिया जाता रहे। तथ्यों का विश्लेषण किया जाता रहे तो बहस के कुछ ही कदम चलने के उपरांत समझौते का बिंदु मिल जाता है। इस प्रकार काम चलाऊँ बिंदु तलाश करते रहने पर ही मतभेदों के बावजूद एकता बनी रह सकती है। इसके विपरीत कोई पक्ष यदि अपनी बात का आग्रही बना रहे। जिद्द पर अड़ा रहे। अपने ही कथन को प्रतिष्ठा का प्रश्न बतलाए तो फिर समझना चाहिए कि मनोमालिन्य की जड़ जमीं और कलह का आधार विकसित हुआ। यह स्थिति अच्छी नहीं। प्रेम को थोड़ा-थोड़ा भी पोषण मिलते रहने पर वह बढ़ता रहता है किंतु यदि उसमें खाई खोदना शुरू कर दिया जाए तो वह फूटे घड़े की तरह भरा होने पर भी कुछ समय में खाली हो जाता है। चिनगारी तभी तक प्रज्वलित रहती है, जब तक उसमें ईंधन पड़ता रहता है। साथी की सद्भावना पर सदा विश्वास किया जाना चाहिए। मतभेदों को साथ नहीं जोड़ना चाहिए। लोक व्यवहार कैसे चलाया जाए ? इसी में अंतर देखा जाए और उसे सहमति स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वैसा न बन पड़े तो भी उस भिन्नता को चेहरे की बनावट में भिन्नता रहने की तरह सहन करना चाहिए। एक गुलदस्ते में कई रंग के फूल होते हैं। पर वे परस्पर लड़ते-झगड़ते नहीं। अपनी-अपनी विशेषता के कारण गुलदस्ते को शोभायमान बनाते हैं।

न केवल दंपति जीवन में वरन् पूरे परिवार के विचार स्वातंत्र्य को सहन किया जाना चाहिए। देखना इतना भर है कि कहीं इस मतभेद में अनीति तो नहीं पल रही है। पतनोन्मुख दोष-दुर्गुणों को प्रश्रय तो नहीं मिल रहा है।

पिछले शताब्दियों से नारी के मानवी अधिकारों का अपहरण नर द्वारा किया जा रहा है। प्रजनन की विशेषता के कारण वह शारीरिक दृष्टि से दुर्बल भी हो जाती है और घर-गृहस्थी के व्यस्त कार्यों में निरंतर फँसी रहने के कारण वह स्वतंत्र रूप से आजीविका उपार्जन भी नहीं कर पाती। ऐसी दशा में उसे दुर्बल, पिछड़ी, कम उपयोगी, महत्त्वहीन माना जाने लगा। इतनी मान्यता बनते-बनते उसका शोषण भी चल पड़ा। शोषण का प्रथम चरण यह बना कि उसकी ममता छिन गई। चरण दासी का दर्जा थोप दिया गया। उसे वांछित वर्चस्व के आगे सिर झुकाकर रहने के लिए बाधित किया गया। दुहरे मापदंड बने। स्त्री को पग-पग पर अपनी हीनता अनुभव कराने के लिए प्रचलनों का पूरा जाल-जंजाल बुनकर खड़ा कर दिया गया। पति को परमेश्वर मानने की आस्था जगाई गई। विधवाओं को अविवाहित रहने एवं सती के रूप में चिता में जल जाने, शोभा सज्जा त्याग देने जैसे प्रचलन बनाए गए, जबकि पुरुष के विधुर हो जाने पर ऐसा कोई अनुशासन उन पर लागू नहीं होता। पर स्त्रियाँ घर में ही रहें। घर से बाहर निकलना हो तो कोई निरीक्षण साथ लेकर चलें। पुरुषों के आगे घूँघट पर्दा निकालकर रहें। इन अनुबंधों के कारण ये बताए गए कि स्त्रियाँ भावुक होती हैं, वे किसी अन्य की ओर आकर्षित हो सकती हैं। शील गँवा सकती हैं। प्रतिबंध लगाने वालों के मन में स्त्रियों की हीनता को ही उजागर किया। यह नहीं सोचा गया कि खुले आम घूमने वाला पुरुष तो अपनी स्वच्छंदता का और भी अधिक लाभ उठा सकता है। ऐसी दशा में उस पर तो और भी कड़े प्रतिबंध लगाने चाहिए। स्त्रियों को पतिव्रत पालन करने के लिए जितना जोर दिया जाता है। जितना दबाव डाला जाता है उतना ही पुरुष पर भी पत्नीव्रत पालन करने का अनुबंध होना चाहिए। जो मर्यादाएँ नारी के लिए निर्धारित की गई हैं, वे ही पुरुष के लिए भी की जानी चाहिए। न्याय यही था। औचित्य इसी का प्रतिपादन समर्थन

करता था किंतु वैसा हुआ नहीं। इसका कारण एक ही रहा कि स्त्री को शारीरिक दृष्टि से दुर्बल माना गया और आर्थिक दृष्टि से उपार्जन में असमर्थ।

जंगल का कानून है जिसकी लाठी तिसकी भैंस। समर्थ का ठेंगा शिर पर। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। बघरें हिरन चीतलों को उधेड़ खाते हैं। यह जंगली कानून मानवी गरिमा के विपरीत है। उसे न्याय निष्ठ होना चाहिए, समता और ममता का परिचय देना चाहिए। आत्मीयता की परिधि में दूसरों को भी लेना चाहिए। दूसरों के साथ वही व्यवहार करना चाहिए, जो अपने लिए चाहा जाता है। मानवी गरिमा इसी में है, किंतु देखा इसके विपरीत जाता है। वन्य पशुओं को पालतू बनाकर उसके दूध, बाल, खाल, माँस, गोबर, श्रम आदि का जितना दोहन, शोषण किया जा सकता था किया गया। मुर्गी जैसे पक्षी और मछली जैसे जलचर भी इस परिधि में जकड़े गए। उनकी दुर्बलता का भरपूर लाभ उठाया गया और न्याय औचित्य को आड़े नहीं आने दिया गया। इसी जंगली कानून को शिकार नारी को भी बनाया गया। उसकी स्थिति भी नर की तुलना में दुर्बल मानी गई और जो भी दुर्बल हो उस पर मनमानी करने में कोई हर्ज नहीं समझा गया। यह प्रचलन सामंतवादी अंधकार युग में हुआ था। पर वही रीति-नीति अभी भी चली आ रही है। भारत जैसे पिछड़े देशों में उसे डंडे के बल पर मनमर्जी के लिए विवश किया गया। पाश्चात्य प्रगतिशील देशों में उसे अनेकानेक प्रलोभनों के बल पर दासता स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने के लिए फुसलाया गया। स्थिति वही है जो साम्राज्यवादी देशों ने दुर्बल देशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके की थी। राजाओं द्वारा किस प्रकार प्रजाजनों का दोहन होता था। उसी से मिलता-जुलता व्यवहार नारी समुदाय के साथ अब तक चला आ रहा है, इसी का परिणाम है कि नारी अपंग बनकर रह रही है। स्वास्थ्य, शिक्षा और स्वावलंबन के क्षेत्र में लुंज-पुंज बनकर रह गई है। इसका प्रभाव समूचे समाज पर पड़ा है। आधी जनसंख्या को पक्षाघात हो जाने जैसी स्थिति बन गई है। नारी को नर के गले का पत्थर बनकर लटकना पड़ता है। वह स्वयं असमर्थ बनी और पुरुष को अपने भार से इतना लाद दिया कि वह और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करने योग्य रह ही नहीं गया। स्त्री का, बच्चों का मिला-जुला भार इतना बोझिल हो जाता है कि

उसे निरंतर लादे रहने में उसकी कमर टूटती है। यह बोझ घटता नहीं वरन् आयु बढ़ने के साथ-साथ बढ़ता जाता है। बेटे-बेटियों से निवृत्त नहीं हो पाते कि पोते-धेवते अपनी-अपनी फरमाइशें लेकर आ उपस्थित होते हैं। महत्त्वपूर्ण कार्य करने के लायक न समय बचता है न मन न साधन। यदि नारी को इस प्रकार प्रतिबंधित न किया गया होता तो वह पति के लिए सहायक रहती। उस पर भार न बनती और बेकार समय काटने के लिए बाल-बच्चों से घर भरने के लिए सहमत न होती। नारी का शोषण करने, उसे अपंग बनाकर रखने में जो लाभ सोचे गए थे, वे भ्रम मात्र थे। वस्तु स्थिति सर्वथा विपरीत निकली। पद-दलित नारी अपने लिए, बच्चों के लिए, पति के लिए समूचे परिवार के लिए भारभूत सिद्ध हुई। वह इनमें से किसी के लिए भी उत्साहवर्धक सिद्ध नहीं हुई फिर देश, धर्म, समाज, संस्कृति के लिए तो वह कोई अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर ही कैसे सकती थी ?

समय आ गया है कि नर को अपने चिरकाल से चले आ रहे अनाचार का परिष्कार करना चाहिए। प्रायश्चित् उसी को करना है।

वह प्रायश्चित् इसी प्रकार हो सकता है कि नारी को जितना गिराने के लिए षड्यंत्र रचा गया है उसकी क्षति पूर्ति की जाए। खाई को पाटा जाए जिसमें गिरकर पैर तोड़ने, जान गँवाने का खतरा खड़ा हो गया है। भूमि को समतल किया जाना चाहिए। नारी को दासी स्तर से ऊँचा उठाकर उसे सहचरी स्तर तक विकसित किया जाना चाहिए।

इस परिवर्तन में पुरुष को अग्रगामी भूमिका निभानी चाहिए। शुभारम्भ मनोवैज्ञानिक परिवर्तन से करना चाहिए। प्रयत्न यह होना चाहिए कि दोनों पक्ष अपने को एक ही मनुष्य जाति के समभागी सदस्य समझें और उन पहचानों को हटाएँ जो नारी को भोग्या और पुरुष को भोक्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उत्तेजक वेशभूषा, शृंगार, केश, विन्यास, भौंड़े वस्त्र, नाक, कान के आभूषण, यह सभी ऐसे हैं जो नारी को गुड़िया जैसे खिलौने के रूप में प्रस्तुत प्रदर्शित करते हैं। होना यह चाहिए कि दोनों का वेष विन्यास एक जैसा रहता। इस सन्दर्भ में चीन तथा उसके इर्द-गिर्द वाले देशों ने सही मार्ग अपनाया है और पुरुष तथा नारी का लिबास प्रायः एक जैसा रखा है। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह पड़ता है कि दोनों पक्ष अपने

को मनुष्य जाति का समान सदस्य अनुभव करते हैं। कामुकता भड़काने वाले उपकरणों के हट जाने से उनका ध्यान बहिन-भाई या पति-पत्नी के रूप में, सहचर के रूप में मिल-जुलकर रहने या काम करने के लिए समुद्यत होता है। कोई पक्ष ऐसा छुई-मुई नहीं रहता, जिसको प्रति पक्षी की दृष्टि मात्र से चंगुल में फँसाकर पतन के गर्त में गिरा दे। उत्तेजक वेष विन्यास ही है जो नर-नारी के बीच कामुक उत्तेजना उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी है। एक पक्ष की हीनता का सूचक भी। पशुओं को बंधन में बाँध रखने के लिए उनके नाक में नकेल डालते हैं। गाय, ऊँट आदि को इसी आधार पर इधर-उधर खरीद ले जाया जाता है। कैदियों को हाथ में हथकड़ी, पैर में बेड़ी, गले में तौक, कमर में रस्सी बाँधी जाती है। उसी प्रक्रिया का यह विकसित रूप है कि स्त्रियाँ नाक में, कान में छेद कराएँ और उनमें नकेल, नाथ, अंकुश के प्रतीक जेवर पहनें। गले में, हाथ-पैरों में, कमर में, वैसे आभूषण पहनें जिससे उनकी सामाजिक स्थिति कैदी जैसी प्रतीत होती है। यह दासता के चिन्ह हैं जिन्हें अब प्रसन्नतापूर्वक धारण किया और कराया जाता है यह अनुचित है। किसी महिला को जज, मिनिस्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक, प्रोफेसर बनना पड़े तो क्या वह बचकानेपन को धारण किए हुए जन समुदाय के सामने उपस्थित होने में लज्जा अनुभव न करेगी ? यदि हाँ तो उसे गृह-संचालिका ही नहीं पति के हर काम में सहचरी बनने की प्रक्रिया में सहभागी बनने के लिए प्रायः वैसा ही वेष-विन्यास बनाना चाहिए जैसा कि पति का है। उसमें राई रत्ती अंतर रहे तो ही उसे किसी प्रकार दर-गुजर किया जा सकता है।

मेंहदी, महावर, होठों की लाली, नाखून पॉलिश, माँग का सिन्दूर, माथे की बिन्दी, काँच की चूड़ी आदि सजावटें भी नारी के द्वारा अपनी हेय स्थिति स्वीकार किए जाने के प्रमाण विज्ञापन हैं। यदि ये सुहाग के चिन्ह हैं तो नारी के सौभाग्यवती होने की तरह नर को भी सौभाग्यवान् होना चाहिए और इन्हीं चिह्नों को उन्हें भी धारण करना चाहिए। पुरुष धारण नहीं कर सकता इसका अर्थ यह है कि वह अपने बड़प्पन का अहंकार कम नहीं करना चाहता। नारी ही है जो अपने बँधुआ होने के सभी प्रतीक पट्टे धारण किए रहती है। इसमें भी अपने को सौभाग्यवान होने का गर्व करती है।

नारी में कुमारी, विवाहिता, विधवा, परित्यक्ता के बीच प्रतीक पर कोई चिन्ह नहीं होना चाहिए। नारी का अर्थ नारी। वह पुरुष की सहचरी है। पर हर स्थिति में उसका पत्नी होना आवश्यक नहीं। वह अपने पिता की, भाई की, किसी स्वजन की कई क्षेत्रों में सहचरी हो सकती है। सहचरी का अर्थ है साथ काम करना। पति-पत्नी भी सहचर तभी हो सकते हैं, जब जीवन संगी बनकर रहें। दोनों एक-दूसरे के काम में हाथ बटाएँ। दोनों अपने-अपने विषय से साथी को परिचित तथा प्रवीण बनाएँ। यदि इसमें किसी पक्ष को संकोच अनुभव होता है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि आपस में ही असाधारण भेद-भाव नहीं करते वरन् अपने कामों में भी वैसा ही अंतर मानते हैं। यदि पति दुकानदार है और कदाचित बीमार पड़ गया है तो पत्नी की स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि पति की चिकित्सा के लिए भाग-दौड़ करने के अतिरिक्त दुकान व्यवसाय का काम भी सँभाल सकें इसी प्रकार पत्नी भी बीमार या प्रसव कार्य की मजबूरी में हो तो पति को वे सभी घर गृहस्थी के काम करने में संकोच नहीं होना चाहिए जो पत्नी किया करती थी। काम का बँटवारा स्वैच्छिक और सुविधा की दृष्टि से है, उसके साथ हीनता या बड़प्पन किसी प्रकार जुड़ा नहीं होना चाहिए।

सहचर का क्रियाकलाप मात्र साथ-साथ काम करने तक ही सीमित या समाप्त नहीं हो जाता वरन् उसके साथ यह दायित्व भी जुड़ता है कि विकसित पक्ष अविकसित पक्ष को कम से कम अपने बराबर बनाए या और भी अधिक विकसित सुयोग्य समर्थ बनाने का प्रयत्न करें। नर की योग्यता और आयु नारी से अधिक होनी चाहिए। पिछले दिनों से यह मान्यता बनी चली आ रही है। अब इसमें अंतर किया जाए तो यह भी बिना किसी हिचक और झिझक के हो सकता है कि पत्नी पुरुष की तुलना में अधिक शिक्षित, अधिक सुयोग्य, अधिक बलिष्ठ एवं अधिक आयु की हो। सहचर होने का तात्पर्य मानसिक आत्मिक दृष्टि से बराबरी का होना है। आयु, योग्यता आदि की दृष्टि से कोई भी बड़ा हो सकता है। एक ही वरिष्ठता का लाभ दूसरे को सहचर होने की स्थिति में अनायास ही मिल जाता है।

❐ ❐

सच्चे दांपत्य-प्रेम की कसौटी

विवाह हुए कुछ समय बीत जाए पर बच्चा न हो, तो नववधू चर्चा का विषय बन जाती है। जिसके ढेरों सारे बच्चे हैं, वे महिलाएँ अपने से उसकी तुलना करती हैं, अपने को भाग्यवान कहती हैं कि भगवान ने इतनी जल्दी-जल्दी इतने बच्चे दे दिए; पर उस बेचारी का भाग्य नहीं खुला। कोई देवकोप मालूम पड़ता है, ग्रह-नक्षत्र आड़े आ रहे हैं। वधू और उसके पति को ताने दिए जाते हैं, लांछन लगाए जाते हैं, कोई वर को अशक्त बताता है, तो कोई वधू को वंध्या कहता है। बहुत लाड़ जताने वाले तो बिना माँगी यह सलाह तक देने लगते हैं कि दूसरा विवाह कर लिया जाए। घर के अधिक लोगों की या बड़ों की ऐसी इच्छा देखकर उस कौतुक को रचाने के लिए किसी जीवट स्त्री को पटा लिया जाता है कि इस वधू के ग्रह खोटे हैं, इसके बच्चा नहीं होगा; दूसरा विवाह करने पर वंश चलेगा। समझदार लोग तो ऐसा नहीं होने देते; पर जहाँ घटिया पुराण चलता है और बुद्धि का दिवाला निकल गया होता है, वहाँ ऐसा होता भी देखा गया है कि दूसरा विवाह भी कर लिया जाता है। इतने पर भी यदि पति में कमी हुई तो दूसरी पत्नी को भी संतान नहीं होती हैं। कभी-कभी लड़कियाँ ही लड़कियाँ होती जाती हैं। पुत्र की प्रतिज्ञा में बच्चियों की संख्या ढेरों हो जाती है, फिर भी वंश चलने का प्रश्न बना ही रहता है। लड़कियाँ होने पर वंश चलने की बात पूरी हुई नही मानी जाती, असंतोष फिर भी बना रहता है।

किसी संबंधी का लड़का गोद ले लेने पर स्थिति और भी विचित्र हो जाती है। गोद लिया हुआ लड़का होश सँभालते ही यह सोचने लगता है कि नकली बाप कब मरे और उत्तराधिकार में उसकी संपदा कब हाथ लगे ? मरने पर या जीवित स्थिति में ही अधिकार हाथ आ जाने पर मुफ्त के पैसे को दुर्व्यसनों में खर्च करना शुरू कर दिया जाता है। सदुपयोग तो उसी संपदा का हो

सकता है, जो परिश्रमपूर्वक कमाई गई है। मुफ्त की दौलत तो गुलछर्रे उड़ाने में ही खर्च होती है। बुढ़ापे का सहारा होने वाली बात व्यर्थ है, जबकि असली बेटे ही अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते, उस जमाने में नकली बेटों से कोई बड़ी आशा करना व्यर्थ है। नकली बाप के मरने के दिन नकली बेटा उत्सुकतापूर्वक गिनता रहता है। न मरने पर ऐसा षड्यंत्र बनाता है कि चांडाल चौकड़ी के सहारे उसे अशक्त बनाकर एक कोने में बिठा दिया जाए और जमा पूँजी की आवारागर्दी में फुलझड़ी जलाकर समाप्त किया जाए।

दो पत्नियाँ जिनके घर में संतान के कुचक्र में आ जाती हैं, उनके घर का कलह, मनोमालिन्य तो धरती-आसमान एक करता रहता है। यह निश्चित है कि दो पत्नियों का शांतिपूर्वक निर्वाह एक साथ नहीं हो सकता है। उनके बच्चे बड़े होते हैं तो उनके बीच भी कलह ठनी रहती है। ऐसी स्थिति में घर नरक बन जाता है। गोद किसी का बच्चा लेने या दूसरा विवाह करने की दोनों ही परिस्थितियों में घर नरक बन जाता है। जिस उपलब्धि की कल्पना की गई थी, वह तो किसी स्वप्नलोक की तरह अनहोनी ही बनकर रह जाती है। प्रयोगों की रत्ती भर भी आवश्यकता नहीं थी, जबकि तिल का ताड़ बनाकर उसका समाधान ऐसा भयंकर सोचा गया, जो दूसरी स्थिति बनी रहने की तुलना में कहीं अहितकर और अनिष्टकर सिद्ध होता है।

पड़ौसियों को तो कुछ कहने से काम, किसी-न-किसी की नुक्ताचीनी करनी। प्रशंसा करने की अपेक्षा निंदा करना अच्छा लगता है। गुणों की प्रशंसा करने की अपेक्षा उनका मन छिद्रान्वेषण करते हुए बात का बतंगड़ बना देने का रहता है। ऐसे ही लोग विवाह धूम-धाम से करने, मृतक भोज में लम्बी-चौड़ी बात करने, तीर्थयात्रा के नाम पर धक्के खाने, जेब कटाने जैसे अहितकर सुझाव देते हैं। न उनमें दूरदृष्टि होती है और न औचित्य का अनुमान लगा पाते हैं। उन्हीं की बिना माँगी सलाहें जिस-तिस को मिलती रहती हैं। इन अनाड़ियों की बात पर जो ध्यान देते हैं, वे घाटे में ही रहते हैं। जल्दी बच्चा न होने पर दुःख प्रकट करने और लांछन लगाने वाले

ऐसे ही लोग होते हैं। उनकी बातों पर ध्यान न देना और सुझाव-आक्षेपों को हँसी-मजाक में ही उड़ा देना उपयुक्त है।

बच्चों की बढ़ोत्तरी एक राष्ट्रीय विपत्ति है। इससे जननी का स्वास्थ्य, पिता का अर्थ—संतुलन, बच्चों का भविष्य और समाज का अभ्युदय सभी लड़खड़ाते-गड़बड़ाते हैं। जनसंख्या इन दिनों जितनी बढ़ गई है और जिस चक्रवृद्धि गति से बढ़ रही है, उसे देखते हुए निर्वाह के साधनों का घटना, प्रगति की योजनाओं का रुकना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में समझदारी का हर पहलू यही पुकारता है कि जिनमें वस्तुस्थिति समझने की क्षमता हो, वे स्वयं प्रजनन से बचें और अपने प्रभाव क्षेत्र को इस रोकथाम के लिए सहमत करें।

घर के तथाकथित बड़े-बूढ़े अपने सड़े दिमाग से किसी वधू को जल्दी-जल्दी बच्चे न होना दुर्भाग्य का कारण मानते हैं; पर यदि उन्हें तथ्यों के आधार पर समझाया जाए कि जिस बात पर वे जोर देते और आवश्यक मानते हैं, उसका दूरगामी परिणाम क्या हो सकता है ?

नए बच्चे आते ही उसकी आर्थिक आवश्यकताएँ एक नए मेहमान के अपने घर में स्थायी रूप से बसा लेने जैसी बनती और बढ़ती हैं। माँ के दूध से काम नहीं चलता, तो बाजार से दूध का प्रबंध करना पड़ता है। आमदनी तो बढ़ती नहीं; पर दूध से उसका भेट भरने के लिए खर्च बढ़ाना ही पड़ता है। इसकी कटौती परिवार को चाय मिलते रहने जैसी कटौती होते रहने के रूप में सामने आती है। बच्चा जल्दी-जल्दी कपड़े गंदे करता है। उसके लिए कई-कई जोड़ी कपड़े बनाने पड़ते हैं, जो मिलकर एक बड़े आदमी के उपयोग में आने वाले वस्त्रों के बराबर होते हैं। बच्चे बीमार भी अधिक पड़ते हैं। दवा-दारू का खर्च और परिचर्या में सारे घर का लगे रहना एक नया काम बढ़ना है। इसके अतिरिक्त बच्चे होने का मनोवैज्ञानिक प्रभाव जन्म देने वालों पर यह पड़ता है कि वे अपनी संतान के लिए अधिक बचा सकने की दृष्टि से गुपचुप बचत करने लगते हैं या फिर अलग घर बसा लेते हैं, ताकि परिवार के स्तर से अधिक अच्छा स्तर अपने लिए और अपने बच्चे के लिए बना सकें। इस अभिलाषा की तीव्रता में वे छोटे बहिन-भाइयों की, माता-पिता,

बड़े-बूढ़ों की सेवा-सहायता वाली बात को भी भुला बैठते हैं। बच्चा होने का अर्थ है पुराने परिवार में तत्काल आर्थिक कटौती होना और भविष्य के लिए उसमें से एक नया परिवार अलग से छिटक जाना। निश्चय ही इस प्रक्रिया का दुष्परिणाम पुराने परिवार को अनेक दृष्टियों से भुगतना पड़ता है। यदि नए बच्चे न होते तो उसके लिए होने वाले अनेक खर्चों से परिवार बच सकता था और उस राशि से वर्तमान सदस्यों को प्रगति एवं सुव्यवस्था के अनेक साधन मिल सकते थे।

कई पति-पत्नियों को यह रीति अपनाते देखा गया है कि दोनों में से एक नौकरी आदि से कुछ कमाता रहे और दूसरे को पढ़ने या प्रगति का दूसरा रास्ता अपनाने का अवसर प्राप्त कराता रहे। इसके बाद दूसरा पक्ष कमाकर खर्च चलाए और पहले को उपयोगी प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर देता रहे। यह क्रम निरंतर चलता रहे। पति-पत्नी आपस में ही एक-दूसरे को बच्चा मानकर उसकी हितसाधना—मंगल कामना की योजना बनाते रहें, तो इसका परिणाम सुखद और सुंदर हो सकता है, जिसका कोई अंतर नहीं। बच्चे होने पर ध्यान बँटता है और दांपत्य जीवन की पारस्परिक घनिष्ठता पर भी उसका असर पड़ता है, अन्यथा निःसंतान रहने पर दोनों एक-दूसरे को अधिक सुखी-समुन्नत, प्रसन्नचित्त, स्वस्थ, शिक्षित बनाने के लिए इतना कुछ कर सकते हैं, जिसके साथ साथी रोम-रोम से कृतज्ञ रहे और मुसीबत में फँसने से बचा लेने के अहसान का अधिक मीठा प्रत्युपकार चुकाने की बात सोचें। सर्वविदित है कि बच्चों की माता न तो परिवार वालों की उतनी सेवा कर सकती है, जितनी पहले करती थी और न शरीर से उतनी स्वस्थ रहती है जैसी कि पिता के घर से हँसती-फुदकती आई है। शिक्षा में बढ़ोत्तरी करने का अवसर तो एक प्रकार से समाप्त हुआ ही समझा जाना चाहिए। एक बच्चे का गणितीय वजन इतना होता है, जितना एक पूरे आदमी को कंधे पर लादे फिरने का। जिसे इस स्थिति में दबा-दबोचा हुआ रहना पड़ रहा हो, उसे तो यह समझना चाहिए कि सुविधा और प्रगति के अवसर छिन गए; अब उसे किसी प्रकार मरते-खपते गाड़ी ही घसीटनी है; अब वह पत्नी न रहकर जननी हो गई है। पति के लिए

कोई सेवा-साधना करने की अपेक्षा जो कुछ करेगी, बच्चे के लिए करेगी; इससे पति भी घाटे में रहता है और पत्नी भी। बिना संतान के रहने पर विवाहित होकर भी एक-दूसरे के लिए तथा समूचे समाज के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। रामकृष्ण परमहंस, आचार्य कृपलानी, जयप्रकाश नारायण आदि ने ऐसे ही विवाह किए, जिनमें बच्चे पैदा न करने का पहले से ही प्रावधान कर लिया गया था। सामयिक परिभाषा के अनुसार उन्हें ब्रह्मचारी ही कहना चाहिए; जो बच्चे पैदा नहीं करते और मिलजुल कर कोई आदर्श क्रियाकृत्य अपनाते हैं। जापान के गाँधी—कागावा ने ऐसी ही सहचरी प्राप्त की थी और दोनों की सम्मिलित शक्ति से उस देश के पिछड़े हुए लोगों के लिए चकित कर देने वाला सुधार कार्य संभव हुआ था। पत्नी तभी अपने लिए और पति के लिए, एक-दूसरे के लिए गले का पत्थर बनती है, जब वह बच्चे-पर-बच्चा जनती चली जाती है।

इस स्वेच्छापूर्वक आमंत्रित संकट को सहज ही टाला जा सकता है। परिवार नियोजन की किन्हीं विधियों को अपनाकर वीर्य रक्षा न बन पड़ते हुए भी ब्रह्मचारी-ब्रह्मचारिणी जैसा उद्देश्यपूर्ण—महत्त्वपूर्ण जीवन जिया जा सकता है। विवाह-बंधन में बँधने वाले यदि सच्चे अर्थों में एक-दूसरे को प्यार करते हैं, एक-दूसरे के लिए भारभूत न बनकर रहते हों, अपने सहयोग से दूसरे पक्ष को लाभान्वित करना चाहते हों, तो उसका सीधा-साधा उत्तर है कि वे दो सच्चे मित्रों की तरह एकात्म भाव से, एक-दूसरे के प्रति समर्पित भाव से जिएँ, बीच में किसी को भी व्यवधान उत्पन्न न करने दें, बच्चे को भी नहीं। पुरातनकाल में अधिकांश ऋषियों के जीवन इसी प्रकार बीतते थे। पत्नियाँ आश्रम-व्यवस्था चलाती थीं और पति साहित्य-सृजन, अध्यापन, परिभ्रमण, तप-साधन आदि कार्यों में एक-दूसरे के पूरक बनकर लगे रहते थे। पुरातन संदर्भों की खोजबीन करने पर यह निष्कर्ष सामने आता है कि ऋषि जीवन में विवाहित होने का निषेध नहीं था। उससे तो वे दोनों दुहरी शक्ति के अधिष्ठाता बन जाते थे। एक और एक का अंक बराबर रखने पर उसका स्वरूप दो नहीं, ग्यारह बन जाता है। जिनके पाणिग्रहण आदर्शों को साक्षी देकर हुए हैं; वे मिलजुल कर किन्हीं आदर्शवादी

योजनाओं में ही संलग्न होते हैं। ऐसे ही विवाहों को सफल, सार्थक एवं सौभाग्यशाली कहा जा सकता है। जिन विवाहों से प्रजनन का बाँध टूट पड़े, उन्हें दुर्भाग्यभरा भवबंधनों का जंजाल पैदा करने वाला ही कहना चाहिए।

जो इतने साहस को साथ लेकर विवाह करें, उन्हें अपने परिवारों पर अपनी व्रतशीलता प्रकट कर देनी चाहिए, ताकि वे बेकार की मुँह बिचकाने वाली चर्चा न करें, संतान के लिए किसी ज्योतिषी को कुंडली न दिखाएँ, किसी देवी-देवता की मनौती न मनाएँ। एक बार बात को स्पष्ट कर देने पर उनका चर्चा-चबैया तुरंत बंद हो जाता है और घड़ियाल के आँसू बहाने की अपेक्षा प्रसन्नता व्यक्त करने लगते हैं; क्योंकि इससे सारा परिवार कटौती की हथौड़ी पड़ने से बच जाता है। लाभ-हानि को समझा देने पर हर कोई समझ जाता है। अंधविश्वासी, रूढ़िवादिता तभी तक पैर जमाए रहती है, जब तक कि उसका स्पष्ट शब्दों में दृढ़तापूर्वक समाधान नहीं कर दिया जाता।

विवाह किसी भी दृष्टि से किया गया हो, वह संतानोत्पादन वर्धक ही बनता है। यदि कामुकता उसका प्रयोजन रहा हो, तो वह रसास्वादन देर तक तभी हो सकता, जब बच्चे की जल्दी न हो। यदि साथी-सहचरी की तरह उसका वरण किया गया हो, तो उस कृत्य में भी वह तभी संलग्न हो सकती है, जब इसके लिए उसे पर्याप्त समय-सुविधा मिले। यदि एक-दूसरे की सच्चे मन से स्नेह-सद्भावना को उड़ेलना है तो इसका भी यही तरीका है कि बचा हुआ सारा समय और सारा मन उसी कार्य के लिए लगे। समाज सेवा, आत्मिक प्रगति-परिवृद्धि भी तभी बन पड़ती है, जब दोनों दो शरीर एक प्राण बनकर रहें; दो आँखों की तरह, दो हाथों की तरह, दो पैरों की तरह एक ही प्रयास में संलग्न हों। बच्चों के बीच में आ जाने से उपरोक्त कामों में से एक नहीं बन पड़ता; उसमें पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं।

यदि पति-पत्नी दोनों ही भावनाशील, दूरदर्शी और विचारशील हैं तो उन्हें परस्पर मिलकर यह निर्णय करना चाहिए कि दोनों मिल-जुलकर सहचरत्व का लाभ उठाएँगे, एक-दूसरे को समुन्नत, सुविकसित, सुसंस्कृत बनाने के लिए कुछ उठा न रखेंगे, साथ ही

इस प्रयास में सबसे अधिक बाधा उत्पन्न करने वाली संतानोत्पत्ति से बचे रहेंगे। इस संकल्प में जो अधिक प्रतिभावान हों, वह दूसरे की कमजोरी, कच्चाई, ढुलमुल नीति के परिणामों का अहसास करते हुए निश्चय के संदर्भ में उसे परिपक्व करे। देखा गया है कि इस संबंध में स्त्रियाँ कमजोर पड़ती हैं; पर पड़ोस के ताने उन्हें ही सहने पड़ते हैं। पति भी घर वालों का समर्थन करके पत्नी को अपमानित करने वाले गिरोह में सम्मिलित हो जाता है। ऐसी दशा में नारी उत्कर्ष के अन्यान्य कार्यों की तरह उसे ही पत्नी को समझाने से लेकर घर वालों को लताड़ने तक के कार्यों में अग्रणी रहना चाहिए। सभी संबंधित व्यक्तियों को समझाया जाना चाहिए कि दोनों के सहचरत्व में खामी डालने वाली, परिवार की प्रगति में अड़चन उत्पन्न करने वाली, निरर्थक सलाह देते रहने, आलोचना करते रहने की अपनी नीति पर अंकुश लगाएँ; विवाहों को सर्वतोभावेन सफल सार्थक होने में रूढ़िवादी अनुपयुक्त सड़ी-गली मान्यताओं का अडंगे के रूप में प्रयोग न करें।

पत्नी यदि बुद्धिमान है तो पति से पूछे कि वे सच्चे मन से प्रगति और सुविधा भरा मार्ग अपनाना चाहते हैं या मूर्खता अपनाकर अपना, अपनी सहचरी का, परिवार का, समाज का सर्वनाश करने वाला कुमार्ग अपनाना चाहते हैं या विचारशीलता का परिचय देना, सबका सब प्रकार भला चाहते हैं। समझाने से लेकर आग्रह करने तक प्रत्येक पत्नी को यह प्रयत्न करना चाहिए कि उसका पति विचारशीलता अपनाए और वह करे, जो उसके गहरे प्रेम और दूरदर्शी विवेक का परिचय हैं। यदि स्त्री नासमझ है तो उसके पति को उन सभी तर्कों को उसी अवगत-अनुप्राणित कराना चाहिए, जो लोकचर्चा को मान्यता देकर उसे आत्महत्या के समतुल्य कष्ट देना चाहते हैं और हर दृष्टि से पिछड़ापन लादे रहने वाले गर्त में धकेलना चाहते हैं। दोनों में से जो अधिक समझदार साथी को अपने विचारों से सहमत करे, उस योजना को अग्रगामी बनने दें, जिसके आधार पर दोनों पक्षों के लिए समान सुविधा प्रदान करने वाला पथ प्रशस्त होता है।

जिन्हें घर-आँगन में बच्चे हँसते-खेलते, घूमते देखने का मन है, वे अधिक बच्चे वाले गरीबी की रेखा से नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों के कितने ही बच्चे पालने-पोसने या प्रशिक्षित करने, सुयोग्य बनाने के लिए प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिए उनकी शक्ति-सामर्थ्य से कम नहीं, वरन् अधिक ही बच्चे मिल जाएँगे। विधवाओं, परित्यक्ताओं, विधुरों के कितने ही ऐसे बच्चे होते हैं, जिनका लालन-पालन वे समय की व्यस्तता या आर्थिक कठिनाइयों के कारण ठीक प्रकार कर नहीं पाते। ऐसे दूसरों के बच्चों को भी यदि आत्मीयता के साथ पाला जाए, उन पर अपना अधिकार न जताया जाए, उत्तराधिकार के प्रलोभन में लुभाया भी न जाए तो वह परिपालन विशुद्ध पुण्य-परमार्थ स्तर का हो सकता है। इस आधार पर एक अनुकरणीय व्यवस्था चल सकती है और अनेकों का भला हो सकता है। पूरी तरह किन्हीं बच्चों को न पाला जा सके, तो ईश्वरचंद्र विद्यासागर की तरह अनेक जरूरतमंदों को थोड़ी-थोड़ी सहायता देकर भी उनकी रुकी गाड़ी को आगे धकेला जा सकता है। इस प्रकार अपने बच्चे पैदा करने की अपेक्षा पराए बच्चों को दुलार-सहयोग देकर भी वह वात्सल्य चरितार्थ किया जा सकता है, जिसके लिए लोग अपनी पत्नी को कष्ट देकर उन्हें बच्चे पैदा करने के लिए विवश करते हैं।

दांपत्य जीवन में व्यवहृत होने वाले उच्चस्तरीय प्रेम की दो कसौटिया हैं—एक यह कि अनावश्यक प्रजनन का बोझ न लादा जाए। दूसरा यह कि दोनों की क्षमता परस्पर एक-दूसरे को अधिक सुयोग्य समुन्नत बनाने में लगे। दोनों का मिल-जुला उत्कर्ष लोकहित के लिए समर्पित हो, लोकमंगल की दिशा में चले और आदर्शों की अनुकरणीय प्रतिष्ठापना करे। पति-पत्नी का सच्चा समर्पित प्रेम इस प्रकार विकसित होता और फलता-फूलता है।

❐ ❐

महिलाओं को समर्थता का प्रशिक्षण

व्यक्तिगत दंपत्ति जीवन दो घनिष्ठ मित्रों की सघन आत्मीयता है। इसमें दोनों पक्ष अपने-अपने ऊपर संयम करते हैं। यह पाणिग्रहण ग्रंथि बंधन उच्च उद्देश्यों के लिए होना चाहिए। यह कामुकता की दृष्टि से घटिया दर्जे का सिद्ध होगा और महँगा भी पड़ेगा। दासी के रूप में सदा-सदा के लिए नौकरानी, चौकीदारिन, रसोईदारिन प्राप्त कर लेना आरंभ में तो बड़े नफे का उपहार जैसा मालूम पड़ता है, पर जब उसके साथ जुड़े हुए दायित्व सिर पर लदते हैं तो उन्हें वहन करते हुए कमर टेढ़ी होती है। बच्चों के भरण-पोषण, शिक्षण, शादी, आजीविका के अतिरिक्त जो कुछ कमाया-धमाया था, वह सब कुछ इसी मूल धन की ब्याज के रूप में चुकाना पड़ता है; जो विवाह के समय सुंदर गुड़िया के रूप में मन बहलाने के लिए मिला था। आरंभ और अंत का मध्यवर्ती लेखा-जोखा लेने पर प्रतीत होता है कि सौदा महँगा पड़ा। एकाकी रहते तो संभवतः अधिक निर्द्वंद्व निश्चिंत रहते।

यही बात उस वधू के संबंध में है जो पति के सान्निध्य का सुख और उसी कमाई का लाभ लेने की बात सोचती है। वह भी घाटे में रहती है। अपना स्वास्थ्य, सौंदर्य, स्वातंत्र सब कुछ गँवा बैठती है। पग-पग पर अपमानित होती और एक अपराधी की तरह पिंजड़े जैसी कोठरी में कैद रहती है। दूसरों का सहारा पाने की स्थित पर अपना ही भविष्य अंधकारमय बना बैठती है। यदि ससुराल के लिए किए गए श्रम और त्याग की अपेक्षा अपने शरीर श्रम, बुद्धिबल, कौशल और वफादारी का मूल्य माँगा होता तो वह जीवन भर में कदाचित अच्छी खासी धनाढ्य बन जाती पर अंततः उसके हाथ बासी बुसा भोजन, फटा टूटा कपड़ा और जर्जर शरीर ही हाथ रह जाता है। आरंभिक कल्पना तो बहुत कुछ पाने की रंगीली उड़ान जैसी थी। पर पूरी अवधि का लेखा गिनने पर प्रतीत होता है कि सारी खिलवाड़ धोखे की टट्टी जैसी निकली।

विवाह का आम प्रचलन है। कोई अंधा अपंग भी बिना विवाह किए रहना नहीं चाहता। इसके लिए सपने भी सँजोता है, प्रयत्न भी करता है और अपनी उपलब्धि में सोचता है कि मनोरथ पूरा होने जैसा सुयोग मिला। पर उस कागज की नाव का जल्दी ही दिवाला निकल जाता है। प्रतीत होता है कि जाल में फँसी हुई चिड़िया या मछली जैसी भूल हो गई। पाने के लिए जो विवाह करते हैं, उन्हें पछताना पड़ता है। प्रसन्न वे होते हैं जो साथी को बहुत कुछ देने, लुटाने, निछावर होने के लिए सहचर ढूँढ़ते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि साथी सुंदर सुयोग्य ही हो। कुरूप और अयोग्य पर भी यदि आत्मीयता, ममता, सद्भावना, श्रद्धा बखेरी जाए तो वह ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई देवलोक का वासी हो। वस्तुतः अपनी ही श्रद्धा साथी से टकराकर अपने पास वापिस लौट आती है। अपनी उदारता साथी को प्रतिक्रिया बनकर वापिस लौट आती है। आदर्शों से भरा-पूरा प्रणय ही कल्पवृक्ष की तरह फलता है। पर यदि उसका अभाव रहे, शोषण या दोहन के लिए साथी को फँसाया गया तो समझना चाहिए कि वह फंदा अपने ही गले में फँसेगा। विवाह होने के कुछ दिन बाद ही अपने कुचक्र का कष्टदायक प्रतिफल सामने आने लगेगा।

जिनके मन में साथी की उदारता का दोहन करने की ललक हो उनके लिए यही अच्छा है कि इस कुचक्र को रचने के प्रपंच में न पड़ें। एकाकी रहें। स्वतंत्रता की जिंदगी जिएँ। पराश्रित न बने। जो पाया है उसकी तुलना में अनेक गुना गँवाने के जाल-जंजाल से बचे रहें। जब तक साथी की सेवा करने, उसे ऊँचा उठाने, निहाल करने की आतुरता न उमंगे तब तक विवाह का अवसर आने के लिए ठहरे रहना और धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करना ही उचित है। भले ही इसके लिए आजीवन प्रतीक्षा ही क्यों न करनी पड़े। वासनात्मक विवाह तो कुत्ते बिल्ली भी कर लेते हैं, पर इसमें उन्हें किसी प्रकार का सुख-संतोष नहीं मिलता। अपने साथी की दुर्गति कराने का पाप ही उन विवाहितों के सिर पर चढ़ता है।

साथी की सेवा सहायता करके उसे ऊँचा उठाने के अतिरिक्त उस पर प्यार लुटाने की बात ही विवाह के संदर्भ में सोचनी चाहिए और हर दिन यह देखते रहना चाहिए कि साथी को सुखी बनाने के लिए ही नहीं, सुसंस्कृत बनाने के लिए कितना किया और भविष्य में क्या करने का

निर्धारण है ? एक-दूसरे को प्रसन्न करना ही नहीं वरन् समुन्नत बनाना कर्त्तव्य है। उसी को पूरा करते रहने से विवाह का सत्परिणाम उत्पन्न होता है और वह सच्चे अर्थों में सफल सार्थक होता है।

पैर में ठोकर लग जाने पर मनुष्य बैठ जाता है। समीप से देखता और हाथ से टटोलता है कि कितनी गहरी किस प्रकार की चोट लगी ? उससे बहते हुए रक्त को बंद करने के लिए क्या किया जा सकता है ? तुरंत जो साधन उपलब्ध होते हैं, उनका उपचार तो तत्काल किया जाता है। बाद में अन्यत्र अस्पताल आदि जाने की, कुछ उपचार कराने की आवश्यकता पड़ती है तो उस प्रयोजन के लिए वहाँ जाया जाता है। कोई यह नहीं सोचता कि पैर की उँगली ही टूटी है, अन्य सब अंग तो ठीक हैं फिर एक छोटे अवयव के क्षतिग्रस्त हो जाने पर उस पर इतना ध्यान देने की क्या आवश्यकता है, जिसके लिए अन्य काम रोकने पड़ें। समूचा शरीर एक ही तंत्र के रूप में रह रहा है। किसी भी अंग के क्षतिग्रस्त होने पर सारी शांति नष्ट हो जाती है। मन एकाग्र होकर उसी को सुधारने में लगता है। इससे भी बड़ी कठिनाई तब होती है जब आधे शरीर को पक्षाघात जैसा रोग हो जाता है। आधा शरीर ठीक रहते हुए भी पक्षाघात पीड़ित की स्थिति ऐसी बन जाती है, जिसमें शरीर निष्क्रिय, निरर्थक बन जाता है। पीड़ित पक्ष की व्यथा स्वस्थ पक्ष को भी सताती है। कुल मिलाकर इस रोग का रोगी अपंग स्थिति में ही पहुँच जाता है।

यह उदाहरण महिला समाज के पिछड़ी स्थिति में होने के कारण नर की सुव्यवस्था और प्रगति के भारी व्यवधान उपस्थित होने के संबंध में कहीं जा रही है। मध्यकाल के सामंतवादी अंधकार युग में नारी को वासना और विलास का एक उपकरण माना गया, उससे बंधुआ मजूरों जैसा दासी स्तर का काम लिया गया। लंबे समय से यह स्थिति चलती आ रही है। फलतः शोषित पक्ष भी उसका अभ्यस्त हो गया है। जो लाभ उठाते रहे हैं, वे तो अपनी सुविधाओं में कमी आने देने के लिए अपनी ओर से प्रयत्न करेंगे ही क्यों ? परिस्थिति ऐसी हो गई हैं कि आधी जनसंख्या अपनी मौलिक क्षमता का एक बहुत बड़ा भाग निष्क्रिय बना चुकी है। सुधार परिवर्तन की दिशा में कुछ नहीं हो रहा है। अपनी कठिनाइयों को वे

स्वाभाविक प्रचलन मान लेने पर हेर-फेर की आवश्यकता ही क्यों अनुभव करेगी और उसके विरुद्ध आवाज भी क्यों उठाएगी ?

किसी को कोई व्यवहार सहन नहीं होता तो उसका प्रतिरोध उसी व्यक्ति से करती है, जिसे दोषी समझती है अथवा जिससे हिमायत किए जाने की आशा होती है, उससे अपनी बात तर्कपूर्ण ढंग से नहीं वरन् आक्रोश में भरकर ही कहती है। आक्रोश की प्रतिक्रिया आक्रोश के रूप में ही होती है। समाधान तो शांतचित्त से वास्तविक कारण ढूँढ़ने और उसका स्थायी समाधान करने पर ही स्थिति में सुधार होता है। ऐसा प्रयास पीड़ित, उत्पीड़क अथवा सुधारक वर्ग में से किसी ओर से भी नहीं होता। इस दिशा में सार्थक एवं गंभीरता युक्त प्रयत्न किया जाए इसका ठीक यही समय है।

जापान के गाँधी कागावा ने संयोगवश मिली पत्नी को इस रूप में प्रशिक्षित किया था कि वह अपनी व्यक्तिगत सुविधाओं की बात पूरी तरह निकाल दे और उनके पिछड़ों को उठाने वाले सेवा उपक्रम में लगावे। यह रीति-नीति उन आदर्शवादी विचारशील पतियों को अपनानी चाहिए। अपनी पत्नी को महिला जागृति के लिए सहमत, तत्पर एवं प्रशिक्षित करना चाहिए। अपने देश में चिरकाल से ऐसा प्रवचन जड़ जमाए हुए है कि महिला समाज में पुरुष वर्ग का प्रवेश निषिद्ध माना जाता है। कहीं ऐसा होता है तो उस पर उँगली उठती है। विरोध होता है और उस प्रयास को सफल नहीं होने दिया जाता। ऐसी परिस्थितियों में यही उपाय कारगर हो सकता है कि विचारशील पत्नियाँ अपने आपको लोक सेविका समझें और महिला जागृति के लिए अपने आपको समर्पित करने की योजना एवं 'दिनचर्या' बनाएँ। पति उनके कार्य में सहयोग करें। मार्गदर्शन दें। योजना बनाएँ और उसे कार्यान्वित करने में अपने पुरुष मित्रों को प्रोत्साहन दें ताकि उनके घरों में उस महिला सेविका को प्रवेश पाने और सहयोग करने की बात बन जाए। घर के पुरुष विरोध करें तो उस स्थिति में बाहर की महिला का घर में प्रवेश कठिन हो जाता है, चाहे वह कितने ही श्रेयस्कर उद्देश्य के लिए ही क्यों न किया गया हो ?

नारी उत्कर्ष के कुछ महत्त्वपूर्ण पक्ष ऐसे ही हैं, जिन्हें आरंभ से ही लिया जाना चाहिए। इनमें कुछ सुधारात्मक हैं, कुछ सृजनात्मक।

दोनों को ही साथ-साथ लेकर चलने की आवश्यकता है। छेद वाले घड़ों के सुराखों को भी बंद किया जाना चाहिए और साथ ही उसका खालीपन दूर करने के लिए पानी भी भरा जाना चाहिए ताकि वह उद्देश्य पूरा हो जिसके लिए घड़ा बना था।

नारी समुदाय में तीन कमियाँ ऐसी हैं जो बुरी तरह खटकती हैं। इनमें से एक है उनका बिगड़ता हुआ स्वरूप दूसरा शिक्षा का अभाव जिसके कारण उनकी विचार शक्ति कूप मंडूक जैसी सीमित बनकर रह जाती है। तीसरी है सर्वथा परावलंबन, उन्हें इस स्थिति में होना चाहिए कि आड़े वक्त में कुछ कमा सकें और आर्थिक दृष्टि से सर्वथा परावलंबी न रहें। इन तीनों को दूर करने के लिए ऐसे रचनात्मक कार्य हाथ में लिए जाने चाहिए, जिससे संपर्क मात्र से महिलाएँ प्रगति की दिशा में कुछ कदम उठा सकें।

कुछ कुरीतियाँ ऐसी हैं जो नारी जीवन के लिए भारी बाधक बनकर रह रही हैं। उनमें से प्रमुख हैं (१) लड़की-लड़के के बीच बरता जाने वाला असमानता का पक्षपात (२) पर्दा प्रथा (३) विवाह शादियों की धूम धाम, प्रदर्शन और दहेज (४) दिनचर्या की ऐसी व्यस्तता जिसमें उन्हें अपने उत्कर्ष के लिए कुछ सोचने या करने का समय न मिल सके।

नारी जागरण का स्वरूप यह होना चाहिए कि तीसरे प्रहर दो घंटे का नारी सत्संग या प्रशिक्षण चल पड़ने के लिए प्रबल प्रयास किया जाए। यह एक स्थान पर अथवा अदल-बदलकर कई स्थानों पर होते रह सकते हैं। उनमें उपरोक्त तीन सृजनात्मक और चार सुधारात्मक कार्यक्रमों को हाथ में लिया जाए। प्रथम इन बातों को इस प्रकार समझाएँ कि वे सुनने वाले वर्तमान स्थिति में परिवर्तन किए जाने की आवश्यकता अनुभव करें और उस प्रयास में जहाँ जिसके लिए जितना संभव हो, वह उतना कदम बढ़ाने के लिए सक्रिय योगदान करे। इस संदर्भ में तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण प्रस्तुत करते हुए प्रचलित किया जाए। साथ ही विचार-विनिमय के लिए शंका समाधान जैसा अवसर प्रस्तुत किया जाए। इस आधार पर ढर्रे की पिछड़ी प्रक्रिया के विरुद्ध उत्साह जगाया जा सकता है और परिवर्तन के लिए जो करना है, उसकी प्रेरणा दी जा सकती है।

इन सत्संग गोष्ठियों में कुछ ऐसा प्रत्यक्ष कार्यक्रम भी जुड़ा रहे, जिसमें सम्मिलित होने वाली कुछ प्रत्यक्ष लाभ का अनुमान लगा सकें। मात्र दार्शनिक विचारों को सुनने बहुत दिन तक महिलाएँ लगातार नहीं आतीं। वे उबने लगती हैं। इसलिए यदि इन सुधार संगठनों की प्रशिक्षण परिपाटी को अधिक लोकप्रिय बनाना है तो उनके साथ कुछ ऐसे आकर्षण जोड़ने चाहिए, जिससे वे ऐसा अनुभव करें कि कुछ प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है या होने वाला है।

इसके लिए सिलाई की मशीन चलाने, कटाई का गणित समझने, पुराने कपड़ों में से नए निकालने के कार्य को प्रमुखता दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त धुलाई, रंगाई, बुनाई आदि के सरल तथा लाभदायक तरीके समझाए जा सकते हैं। आँगनवाड़ी की प्रक्रिया ऐसी ही सरल है, साध्य है। उससे प्रतिदिन गाय पालने जैसी आमदनी हो, जरिया हर दिन निकलता रहता है। संगीत में भी स्त्रियों को रुचि होती है। बच्चों के लिए खिलौने बना देने एवं टूटी-फूटी चीजों की मरम्मत करके उन्हें नया जैसा बना देना, रंग-रोगन कर देना जैसे कार्य भी ऐसे हों जिनका महत्त्व सहज ही समझ में आ जाता है। इनका आकर्षण रहने से महिला छात्राओं को उस प्रशिक्षण में आसानी से सम्मिलित किया जा सकता है।

वस्तुतः उनकी शिक्षा को बढ़ाने पर अत्यधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रौढ़ शिक्षा पर सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, साक्षरता के अतिरिक्त उनके लिए ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकें भी होनी चाहिए जो उन्हें नारी जीवन तथा समाज के सभी उपयोगी विषयों पर यह जानकारी दे सकें जो इन दिनों प्रत्येक महिला को शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं के समाधान हेतु आवश्यक है। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि नारी ने उस विचारधारा को जीवन के हर क्षेत्र में भर लिया है, जिसकी सर्जना प्रतिगामी और शोषक समुदाय ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए की थी। इस विचारधारा को इस प्रकार साफ करना है मानो मस्तिष्क की नए सिरे से धुलाई की गई हो। प्रतिगामिता को प्रगतिशीलता में बदलने के लिए ऐसा कुछ करना पड़ेगा मानो उलटे को उलटकर सीधा कर दिया गया हो। देखा यह जाता है कि पुरुष तो नारी का

शोषण करने के लिए बदनाम है ही, पर नारियों का नारी के प्रति जो व्यवहार है, उसमें भी क्रूरता, कठोरता का कम समावेश नहीं है। सास बहू की, देवरानी जिठानी की, ननद भावज की पारस्परिक लड़-झगड़ की बारीकी में उतरा जाए तो प्रतीत होगा कि स्त्रियों में पीड़ित वर्ग के साथी होने के कारण जो सहानुभूति होनी चाहिए उसका अभाव ही रहता है। सास बहू के ऊपर जितने प्रतिबंध लगाती है, जितना हैरान करती है, उतना पति या श्वसुर, जेठ आदि नहीं करते। यह अनुदारता उसी प्रतिगामिता का प्रतीक है, जो उन्हें पिछड़ेपन के कारण प्रतिगामिता, कुसंस्कारिता के रूप में विरासत में मिली है।

नारी शिक्षा में साक्षरता के अतिरिक्त प्रगतिशीलता का भी समावेश होना चाहिए ताकि उन्हें यह विदित हो सके कि नारी के पिछड़ेपन का स्वयं उस पर, बच्चों पर, परिवार पर, दांपत्य जीवन और समाज पर क्या बुरा असर पड़ता है ? यदि उन्हें सुयोग्य और प्रगतिशील बनाया जा सके तो उसका क्या सुखद प्रभाव उपरोक्त सभी वर्गों पर हो सकता है ? आधी जनसंख्या को पिछड़ेपन से उबारकर प्रगतिशील बनाया जा सके तो समझना चाहिए कि मानवी शक्ति की समर्थता देखते-देखते दूनी हो गई।

यह पुनरुत्थान जितने तरीकों से हो सकता है, उसमें सर्व सुलभ उपाय यह है कि आदर्शवादी विवाहित जोड़ों में से नारी पक्ष अपने जिम्मे महिला उत्कर्ष का काम ले और उसमें पूरी तन्मयता, तत्परता के साथ लगे। पति इसको पिछली पंक्ति में रहकर समर्थन करे। विधवाएँ, परित्यक्ताएँ, निवृत्त स्तर की अन्य महिलाएँ भी इस कार्य में अपने-अपने ढंग से योगदान दे सकती हैं। बड़े घरों की बहू-बेटियाँ जिनके जिम्मे घर-गृहस्थी का बड़ा काम नहीं है, बहुत व्यस्त नहीं रहतीं। वे भी महिला उत्कर्ष के लिए अपना समय निकाल सकती हैं। यह निर्धारण नियमित होना चाहिए ताकि शिक्षा देने और लेने वाले दोनों को ही नियत समय पर तैयार रहने का ध्यान रहे। नारी जागरण के लिए यों पुरुष भी कुछ न कुछ कर ही सकते हैं। पर अधिक उपयुक्त यही है कि वे अपने घरों की महिलाओं को इस कार्य में लगाएँ और स्वयं उनके कार्य की सफलता के लिए पीठ पीछे रहकर वातावरण बनाएँ।

❐ ❐

सत्प्रवृत्तियों का अनुशासन

नारी की अनेकानेक विशिष्टताएँ हैं। उनकी सहिष्णुता, उदारता, श्रमशीलता की जितनी सराहना की जाए उतनी ही कम है। भावुकता उनके अंतःकरण की असाधारण विशेषता है। यों यह अध्यात्म विशेषण है। इसी के आधार पर श्रद्धा भक्ति जगती है। सेवा और परमार्थ परायणता का उद्‌गम भी यह संवेदना ही है। इतने पर भी इसमें एक दोष भी है कि भावुकता को कोई मधुरभाषी ठग आसानी से अपना शिकार बना लेता है। लड़कियों के वयस्क होने पर उनका जहाँ रंग, रूप निखरता है, शरीर पर नया रक्त, माँस लहराता और शोभा सुषमा बढ़ाता है। इस लावण्य को देखकर कपटी कामुकों को जाल बिछाने और चिड़ियाँ फँसाने की घात लगने का प्रपंच भी कार्यान्वित होने के लिए मचल पड़ता है। प्रेम पत्र लिखने से लेकर लंबे-चौड़े वायदे करने, छोटे-मोटे उपहार प्रस्तुत करने जैसे छद्‌म कार्यान्वित होने लगते हैं। इस कुचक्र में कई लड़कियाँ फँस भी जाती हैं। अवसर मिला तो कुछ कदम आगे भी बढ़ जाता है। लड़कियाँ बेखबर रहती हैं पर शिकारी उनके हाथ से लिखे पत्रों को, धोखे में खिंच गए फोटों का अपने लिए मजदूर करने की हुंडी बना लेते हैं; उनके आग्रह की पूर्ति की जाए अन्यथा वे उन पत्रों, फोटो को प्रकट करके उनका गृहस्थ जीवन नष्ट-भ्रष्ट कर देने की धमकी देते हैं। विदकने पर वे वैसा कर भी दिखाते हैं जैसी कि धमकी दे रहे थे। इस संकट में कई बार लड़कियों की जिंदगी ही दूभर हो जाती है। कई बार नव विवाहिता पति कुछ अपने किस्से सुनाकर पीछे पत्नी से भी उनकी गलतियाँ पूछ लेते हैं। पति अपने को सब कुछ करते रहने के लिए स्वतंत्र मानता है और नारी की एक भूल सुनकर भी आपे से बाहर हो जाता है। उसका ऐसा भयंकर बदला चुकाता है, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सयानी लड़कियों को उनकी माता, भावज आदि द्वारा इन खतरों से आगाह कर दिया जाना

चाहिए और बता देना चाहिए कि वे भावुकता की शिकार न बनें और बन गई हों तो अपनी दबी उँगली निकाल लें। यह प्रसंग ऐसा है जो लड़कियों के लिए बहुत महँगा और भारी पड़ता है।

विवाह के लिए अपनी पूरी पात्रता और उत्सुकता हो तो ही हाँ करनी चाहिए और कदम बढ़ाना चाहिए। अनुपयुक्तता रहने पर भी अभिभावक यदि किसी प्रकार कहीं लड़की को चपेटकर पीछा छुड़ाने का उपक्रम करते हैं तो उनसे स्पष्ट इन्कार कर देना चाहिए। गोदी में एकाध बच्चा विवाह के बाद ही पेट या गोद में आ ही जाता है। ऐसी दशा में आगे विद्या पढ़ने, नौकरी आदि करके स्वावलंबी बनने के सभी अवसर हाथ से निकल जाते हैं। तब जिंदगी भर बड़ी मुसीबत में दिन गुजारने पड़ते हैं। एक ओर कुआँ दूसरी ओर खाई की स्थिति में न मरना हो पाता है न जीना।

कभी-कभी लड़कियों की आयु बड़ी हो जाती है। लड़का ढूँढ़ते-ढूँढ़ते बहुत-सा समय गुजर जाता है पर कहीं वानिग नहीं बनता। थोड़ी कुरूपता होने या पिता की आर्थिक दृष्टि से तंगी में रहने पर भी आयु बढ़ती चली जाती है। अभिभावकों की चिंता देखकर लड़कियाँ भी उद्विग्न हो उठती हैं। ऐसी दशा में अनुपयुक्त लड़के के साथ बाँध देने, आत्महत्या जैसी कोई विपत्ति खड़ी कर देने के हादसे होते देखे गए हैं। ऐसी दशा में अधिक उपयुक्त यह है कि विवाह करने के लिए अपनी मर्जी न होने की बात खुलकर कह देने से सारा झंझट मिट जाता है। शिक्षिका की उपयुक्त पढ़ाई कर लेने पर वह नौकरी भी मिल जाती है। घर पर छोटे बच्चों के लिए ट्यूशन पाठशाला चला लेने पर भी अपने गुजारे के लायक पैसा मिल जाता है साथ ही महिला जागृति जैसे कार्यों के लिए अवकाश मिलता रहता है।

कई बार ऐसा भी होता है कि लड़कियाँ कुछ कमाने लगती हैं और उस पैसे से परिवार की सहायता करने लगती हैं तो विवाह जल्दी करने की उपेक्षा भी की जाने लगती है कारण कि विवाह होने पर उस आजीविका में तत्काल कटौती होती है। ऐसी दशा में भी उचित यही है कि अजनवी परिवार ससुराल के लिए जिंदगी खपा देने की अपेक्षा अपनी कमाई उस परिवार के लिए उत्सर्ग करे

जिन्होंने उन्हें पाला-पोसा और बड़ा किया है। हर हालत में एक बात गाँठ बाँध लेनी चाहिए कि विवाह करना लड़की या लड़के किसी के लिए भी अनिवार्य नहीं है। यदि सरलता से उपयुक्त अवसर मिलता है तो ही उसे स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा जिस पर कितने ही लोग ऐच्छिक या अनैच्छिक कारणों से अविवाहित रहते हैं, उसी प्रकार अपने को भी रहने की बात सोचनी पड़े तो इसमें अनहोनी या असाधारण जैसी कोई बात नहीं है। उपयुक्त सहचरत्व मिले तो ही विवाह में लाभ है अन्यथा अविवाहित जिंदगी काट लेने में भी कुछ असमंजस नहीं होना चाहिए।

कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी नर-नारी, परिवारों के बीच ही रहते हैं। इस सुमदाय में नर-नारी, छोटे-बड़े, तरुण-किशोर सभी होते हैं। इस समुदाय के बीच रिश्ते के हिसाब से पवित्र भाव अपनाने पड़ते हैं। बहिन-भाई, पिता-पुत्री आदि के रिश्ते नर-नारी के बीच होते हैं और वे मर्यादापूर्वक निभाते भी हैं। इस पवित्र दृष्टि को परिवार से बाहर भी अक्षुण्ण रखना चाहिए। दृष्टि को कुदृष्टि नहीं बनने देना चाहिए। कामुक व्यभिचारी कुटिल वेश्याएँ जिस पर तरुण शरीरों को देखते ही अचिंत्य चिंतन करने लगते हैं। वह अनुपयुक्तता किसी को भी आदत में सम्मिलित नहीं करनी चाहिए। सुंदरता को देखकर अचिंत्य चिंतन करने लगना हर दृष्टि से हेय है। इतने भर से अनेक शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, सामाजिक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। उनके दूरगामी दुष्परिणाम होते हैं। शरीर और वस्त्रों को जिस प्रकार साफ-सुथरा रखा जाता है, उसी प्रकार नर-नारी के मध्यवर्ती शालीनता के अनुशासन को दृढ़तापूर्वक निबाहा जाना चाहिए।

ईश्वर प्रदत्त भावना के अतिरेक का सर्वोत्तम उपयोग यह है कि जब जिस परिवार में रहना पड़े। उतने दिनों में उसके प्रत्येक सदस्य के साथ शिष्टाचार बरता जाए। सम्मान दिया जाए और उनके हिस्से के कामों में अपना यथा संभव योगदान दिया जाए। यह स्नेह सद्भाव के आदान-प्रदान का सबसे सरल और सबसे प्रभावी तरीका है। छोटों को छोटों के ढंग से, बराबर वालों और वयोवृद्धों को उनके स्तर के अनुरूप अपनी ओर से स्नेह सम्मान प्रदान करने का कोई

अवसर चुका न जाए। जो बीमार हों उनकी परिचर्या दवादारू पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए। इस प्रकार अपने निजी कामों में अन्यान्यों के कार्य सम्मिलित कर लेने पर काम का भार तो बढ़ता है पर उस किए गए समयदान का प्रतिफल लौटकर गहरी सद्भावना और आत्मीयता के रूप में अपने को मिलता है। किन्हीं के बीच चल रहे मनोमालिन्य या असंतोष को दूर करना भी एक ऐसा कार्य है, जो चुपके-चुपके एकांत में भी किया जा सकता है।

आमतौर से गलत फहमी के कारण ही मतभेद और मनोमालिन्य बढ़ते हैं। वे ही विद्वेष का प्रधान कारण होते हैं। वस्तुतः स्थिति तलाशने पर ऐसा कुछ नहीं मिलता, जिससे हलका मन रहने पर टाला न जा सकता हो। इस कार्य में परिवार के हर विचारशील सदस्य को अपनी भूमिका निभानी चाहिए। चुगली, भिड़ाने से बात बढ़ जाती है और विरोधियों में से दोनों पीठ पीछे प्रकट की जाने वाली प्रशंसा, सद्भावना का विवरण बता देने पर जलती आग बुझ जाती है। जहाँ कहीं भी ऐसी चिनगारी सुलगना आरंभ हो उसे बुझाने का भावनात्मक प्रयत्न करना चाहिए। लड़ा देने वालों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है और मिला देने वाले प्रशंसा के पात्र समझे जाते हैं। यह सद्भावना अर्जित करते रहना एक बड़ा गुण हैं, जिसके लाभ प्रकारांतर से अनेक रूपों में उपलब्ध होते हैं। परिवार भी संयुक्त और सुस्थिर बना रहता है, इस परिणत को ध्यान में रखते हुए जब भी अवसर मिले एक-दूसरे को जोड़ने वाले, उपयोगी, प्रशंसात्मक परामर्श ही देते रहने चाहिए।

घर एक छोटा दायरा है। उसमें थोड़ा ही लोगों के साथ अधिकांश समय बिताना पड़ता है। इन सबके साथ अधिकांश समय बिताना पडता है। इन सबके साथ यदि अपनी ओर से प्रयत्न करके सद्भावना स्थापित कर ली जाए तो उनके साथ सामान्य काम-काज करते हुए ही समय कट जाता है और यह प्रतीत नहीं होता कि किसी छोटे दायरे में एकाकी सिकुड़कर रहना पड़ रहा है। यदि अपने चिंतन में ही डूबे रहा जाए, अपनी ही कठिनाइयों पर सोचते रहा जाए, यही चिंतन चलाते रहा जाए कि अपनी निज सुविधाएँ बढ़ाने के लिए क्या सोचा और क्या किया जाए तो उस दिशा में

अलग रहने के ही भाव उठते हैं। वह प्रक्रिया आरंभ में सुविधाजनक लगती है और अंततः अधिक बोझिल और अपयश देने वाली होती है। उदार दृष्टिकोण बनाए रहने पर दूसरों के काम भी अपने हो जाते हैं और उनके संबंध में क्रियाशील रहने पर छोटा दायरा भी एक भरा-पूरा संसार जैसा प्रतीत होता है और उसमें रहते हुए मन नहीं ऊबता वरन् समय के साथ अधिकाधिक दिलचस्पी बढ़ती जाती है। नारी जीवन का प्रत्यक्ष स्वरूप भारी जटिल और नीरस होते हुए भी अपनी बुद्धिमत्ता से उसे सरस बनाया जा सकता है।

जहाँ परिस्थितियाँ अनुकूल हों वहाँ छोटे-मोटे घरेलू उद्योग भी लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे सृजनात्मक कौशल बढ़ता है और कुछ न कुछ आर्थिक लाभ भी होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि परिवार के अन्य लोगों की सृजन प्रतिभा का विकास होता है जो भविष्य में हाथ के कामों को अधिक सुंदरता से कर सकने की क्षमता बढ़ाती है।

वाणी की नम्रता, मधुरता किसी की भी सज्जनता का बढ़ा-चढ़ा प्रमाण है। इसे अपनाने पर कोई छोटा नहीं होता वरन् साथियों पर बड़प्पन की ही छाप छोड़ता है। उद्धत, उद्दंड, अहंकारी, व्यवहार का प्रदर्शन तो रूखे और कटु व्यवहार से होता है। ऐसी आदत डाल लेने पर बड़प्पन मिलता तो नहीं, वरन् उसकी कमी हर किसी पर प्रकट होती चली जाती है। अहंकारी के प्रति हर किसी की मान्यता और प्रतिक्रिया ऐसी होती है जिसे कटुता युक्त ही कहना चाहिए। यह ऐसा दुर्गुण है जिसमें लाभ तो तनिक भी नहीं, हानि इतनी बड़ी है कि बिना किसी को हानि पहुँचाए अनेकों से शत्रुता जैसा संबंध विकसित होने लगता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रयत्न यही करना चाहिए कि अपनी भाव संवेदना नम्र, मधुर, शिष्ट भाषण तथा सेवा भावी व्यवहार के रूप में प्रकट होती रहें।

महिलाओं को गृह लक्ष्मी कहा गया है। यह नाम इसलिए दिया गया है कि वे घर की संपन्नता को सुरक्षित एवं सुविकसित स्थिति में रखे रहती हैं। प्रत्यक्षतः वे कोई स्वतंत्र व्यवसाय तो नहीं करतीं, जिससे धन कमाकर घर में जमा कर सकें। पर मितव्ययिता में कुशल होने पर वे खर्चों में असाधारण बचत कर सकती हैं।

असावधानी में ढेरों क्षति होती है। वस्तुएँ टूटती-फूटती, बर्बाद होती रहती हैं। पर यदि उन्हें सँभालकर रखा जाए, थोड़ी-सी अस्तव्यस्तता आते ही, टूट-फूट होते ही सँभालते रहा जाए तो घर हमारा साफ-सुथरा, मजा-धुला और सुव्यवस्थित रहता है। घर भी एक प्रकार का शरीर है। भले ही वह किराए का क्यों न हो। पर यदि उसे स्वच्छ, सुसज्जित रखा गया है तो छोटा होने पर सर्वथा सुंदर प्रतीत होता रहेगा। जो आवेगा देखकर घर की ही नहीं उसी अधिष्ठात्री गृह लक्ष्मी की भी प्रशंसा करता चला जाएगा।

विलासिता में, शृंगार में, कई घरों की अच्छी आजीविका भी समाप्त हो जाती है। इस पर बारीकी से दृष्टि रखी जाए और जो कार्य घर के लोगों का पारस्परिक सहयोग जुटकर किया जा सकता हो उसके लिए वैसा प्रबंध किया जाए। मिल-जुलकर काम करने की प्रवृति ऐसी है, जिसमें हँसते-हँसाते, विनोद उत्साह के लिए ढेरों काम निपट सकते हैं और नौकरी की जरूरत सामूहिक श्रम से ही पूरी हो जाती है। सादगी सर्वोत्तम शृंगार है, उसे स्वच्छता के आधार पर सहज ही बनाए रखा जा सकता है। उसके लिए अनावश्यक धन खर्च की आवश्यकता नहीं पड़ती।

समय का विभाजन गृह लक्ष्मी की सबसे बड़ी बुद्धिमत्ता है। घर में कई लोग रहते हैं पर सबकी आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न समय पर प्रकट होती हैं। इस प्रकार गृहिणी को इसके-उसके कामों में निरंतर जुटा रहना पड़ता है। एक की फरमाइश पूरी हुई तो दूसरी आ धमकती है। इस अवस्था का एक ही उपाय है कि परिवार का समय चार्ट हो। नियत समय पर काम करने की आदत सभी को डालने चाहिए। इसमें पूरा परिवार अनुशासन में बँधता है। समय निर्धारित रहने पर गृहिणी को भी विश्राम के लिए, शिक्षा एवं योग्यता बढ़ाने का; अभ्यास करने का समय मिलता है। कई लोग देर से घर लौटते हैं। इसके बाद टी. वी., रेडियो, ताश आदि के मनोरंजनों में लग जाते हैं। जब घर आएँ तभी गरम भोजन बनाने की इच्छा रखते हैं। ऐसी दशा में घर की महिलाएँ देर से सोने, जल्दी उठने के कारण अपना स्वास्थ्य गवाँ बैठती हैं। इस बुरी आदत को घर से निकालना चाहिए। जो लोग कुसमय घर आएँ, उनकी आवश्यकता की वस्तुएँ नियत

स्थान पर ढककर रख दी जाएँ। वे आने पर उठाकर उपयोग कर लें। यह प्रतीक्षा न करें कि चौबीस घंटे हाथ बाँधे खड़ी रहने वाली दासी की हाजिरी उसके लिए आवश्यक है। आमतौर से घर का काम धंधा बहुत ज्यादा नहीं होता, पर उनमें समय का व्यतिक्रम जुड़ा रहने के कारण नारी की व्यस्तता ऐसी रहती है, जिसके कारण उसे अपने विश्राम, विनोद एवं अभ्युदय के लिए कुछ कर सकने की गुंजायश ही नहीं रहती। गृहिणी की कुशलता इसमें है कि वह परिवार के हर सदस्य को समय का मूल्य समझाए और नियत समय पर नियत काम करने की आदत डालें। यह उपक्रम घर में अभ्यास करने पर अपने जिम्मे के बड़े एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों पर ही व्यवहृत होता है और वे सभी कार्य सफलतापूर्वक संपन्न कर लेते हैं। यह छोटा-सा अनुशासन परिवार के हर व्यक्ति का भविष्य उज्ज्वल बनाता है। घर में इसका प्रयोग अभ्यास करने से उसे स्वभाव में सम्मिलित करना भी सरल पड़ता है। साथ ही महिलाओं को भी अनुभव होता है कि उनका भी अपना कोई समय है और वे उसका उपयोग अपने लिए करके प्रगति की दिशा में भी कुछ कदम बढ़ा सकती हैं।

❑ ❑

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा